प्रवचन-प्रकाश

सम्पादक :
पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ
आचार्य : जैन संस्कृत कॉलेज, जयपुर

प्रकाशक :
श्री सूर्य सागर दि० जैन ग्रन्थमाला
मणिहारों का रास्ता,
जयपुर-३

प्रथम संस्करण
१९६८

मूल्य
३-५०

मुद्रक :
श्री वीर प्रेस,
जयपुर-३

Foreword

Pravachan Prakash by Pandit Chainsukhdasji Nyaytirth, Principal Digamber Jains College, Jaipur, is an excellent anthology in Sanskrit giving us the fundamentals of Jainism.

While the Srimad Bhagavad Gita embodies the essence of the Upanishdic teachings and the Dhammapada gives us the glimpse of Budha's doctrine we do not possess any such Jain work to tell us about the wisdom of the Jains. In the present collection the learned Panditji has made an endeavour to remove our long felt want by giving us in a Sanskrit rendering of original verses in Ardhamagadhi followed by a Hindi translation, the basic concepts of Jain ethics and Religion.

It is a commendable effort on his part to prepare such a collection which, I am sure will help even a lay man to have an idea of the Jain concept of Soul, of Non violence, of Truth etc. His style of Sanskrit is simple, lucid, forceful and comprehensive.

With the zeal of a missionary and the profundity of a true Scholar, he has carefully selected the topics and the verses and the division of the text with chapters is also well conceived. To all those who want to have an idea of the essence of Jain Teachings particularly Jain ethics, this collection should prove indispensable.

Authorities in charge of education in the country may well consider if they could profitably include texts like this in the curriculum of our Schools and Colleges to curb the growing unrest and in discipline among our students.

I offer the learned Panditji my sincere congratulations and heartful gratitude.

21-4-68

Biswanath Banerji

M.A, Ph.D, F. R. A. S. of

Great Britain & Ireland

Head of the Deptt. of Sanskrit

Pali & Prakrit, Visva Bharati Santiniketan

इस पुस्तक पर वेदों एवं व्याकरण आदि
अनेक विषयों के पारदर्शी विद्वान् श्री माधव
कृष्ण शर्मा, निदेशक संस्कृत शिक्षा राज०
जयपुर ने अभिमत तथा डा० विश्वनाथ
बनर्जी एम. ए., पी-एच. डी., विश्व
भारती शान्ति निकेतन ने अपना
Foreword लिखकर जो
अनुग्रह प्रदर्शित किया है
उसके लिए मैं
उनका
बहुत कृतज्ञ हूँ।

चैनसुखदास
प्रिंसीपल
दि० जैन संस्कृत कॉलेज,

जयपुर-३
दि० २२-११-६८

* विषय-सूची *

प्राक् कथन

दो तीन वर्ष पहले "अर्हत् प्रवचन" नाम का एक संकलन मैंने सम्पादित कर प्रकाशित करवाया था। इसमें जैनों के प्राकृत साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों की गाथाओं का संग्रह है। इस संग्रह को पाठकों ने बहुत पसंद किया। सच तो यह है उक्त संग्रह मैंने अपने ही स्वाध्याय के लिये सम्पादित किया था। यह पुस्तक देश के तीन विश्व विद्यालयों के पाठ्यक्रम में निर्धारित है। यहां मेरा यह लिख देना भी अप्रासंगिक न होगा कि इस संग्रह के पीछे डा० कमलचन्द सोगाणी एम. ए., पी-एच. डी., प्राध्यापक उदयपुर विश्वविद्यालय की प्रेरणा काम कर रही थी। प्रस्तुत संकलन की सफलता के लिये भी उन्हीं की प्रेरणा काम कर रही है। डा. सोगाणी दर्शन के प्रबुद्ध विद्वान् एवं अंग्रेजी के अच्छे लेखक हैं और ऐसे कामों में सदा ही मेरे सहायक रहे हैं।

इस संकलन में आचार्य पूज्यपाद (विक्रम की पांचवीं या छठी शताब्दी) के समाधि शतक एवं इष्टोपदेश, भट्टाऽकलंकदेव (ईसा की आठवीं शताब्दी) के अकलंक स्तोत्र, महाकवि धनंजय (ईसा की आठवीं या नवमी शताब्दी) के विषापहार स्तोत्र, महाकवि वीरनंदी (ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी) के चन्द्रप्रभ चरित, वादिराज (ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी) के पार्श्वनाथ चरित एवं एकीभाव स्तोत्र, आचार्य हेमचन्द्र (ईसा की बारहवीं शताब्दी) के महादेव स्तोत्र एवं योगानुशासन, आचार्य शुभचन्द्र (विक्रम सं० १०५५ और १२०० के बीच किसी समय) के ज्ञानार्णव, आचार्य जिनसेन (ईसा की नौवीं शताब्दी) के महापुराण, आचार्य समन्तभद्र (दूसरी शताब्दी से पांचवी शताब्दी तक) के रत्नकरण्ड श्रावकाचार एवं स्वयंभु स्तोत्र, आचार्य उमास्वाति (ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी) के प्रशमरतिप्रकरण, आचार्य रविषेण (विक्रम की आठवीं शताब्दी) के पद्मपुराण, महाविद्वान आशाधर (विक्रम की तेरहवीं शताब्दी) के अनगार धर्मामृत, आचार्य अमृतचन्द्र (विक्रम की ११ वीं शताब्दी) के पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, महाकवि वाग्भट्ट (विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग) के नेमि निर्वाण, महाकवि वादीभसिंह (विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी) के क्षत्रचूडामणि, महाकवि सोमदेव (विक्रम की ११ वीं शताब्दी) के यशस्तिलक, आचार्य अमितगति (विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी) के द्वात्रिंशिका, आचार्य मानतुंग के भक्तामर स्तोत्र एवं कुमुदचन्द्र के कल्याण मन्दिर स्तोत्र, रामसेन (विक्रम की दसवीं शताब्दी) के तत्वानुशासन और महाकवि (हरिचन्द्र ११ वीं शताब्दी) के धर्मशर्माभ्युदय आदि ग्रंथों के उदात्त एवं प्रांजल पद्यों का संग्रह है। ये सभी पद्य त्रिकालाबाधित सत्यों का प्रतिपादन करने वाले हैं। इनका किसी भी सम्प्रदाय विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं है।

दिगम्बर संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थ एवं श्वेताम्बर संस्कृत साहित्य के अधिकांश ग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण उनका उपयोग इस संग्रह में नहीं किया जा सका इसका मुझे बहुत दुख है।

इस संग्रह में सबसे अधिक उपयोग आचार्य पूज्यपाद के समाधि शतक एवं इष्टोपदेश तथा आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव का किया गया है। वास्तव में ये तीनों ग्रन्थ संस्कृत साहित्य रत्नाकर के बेजोड़ हीरे हैं। इनका अध्ययन अध्यापन मनुष्य को शांति प्रदान करता है।

यह संकलन भी मैंने अपने ही स्वाध्याय के लिए संपादित किया है। आशा है पाठक आत्मतत्व की प्राप्ति के लिए इसका अवश्य उपयोग कर अपने को लाभान्वित करेंगे।

इस संकलन के प्रकाशन की सहायतार्थ मुंशी फूलचंदजी बाकीवाले (जयपुर) ने रु० चारसौ प्रदान किये थे। मुझे खेद है कि इसके प्रकाशित होने के पहले ही उनका देहावसान हो गया।

भाद्रपद सं० २०२५ —चैनसुखदास न्यायतीर्थ

भारतीय वाङ्मय में जैन साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, तामिल, कन्नड़ और हिन्दी आदि भाषाओं में इस साहित्य की विशाल ग्रन्थ राशि उपलब्ध होती है। व्याकरण, न्याय, काव्य, छन्द, गणित, कथानुयोग, आयुर्वेद एवं ज्योतिष आदि सभी विषयों में जैन ग्रन्थकारों ने अधिकारपूर्वक लिखा है। किन्तु खेद है कि इसका सामान्य पाठकों में उतना प्रचार नहीं है जितना आधुनिक युग में अपेक्षित है।

जैनों का धार्मिक अथवा नैतिक साहित्य भी बड़ा समृद्ध है। दिगम्बर जैन संस्कृत कॉलेज के प्रिंसीपल श्री पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ इस प्रकार के साहित्य से लोगों को परिचित कराने में प्रयत्नशील रहते हैं। प्राकृत भाषा के प्राचीन महत्वपूर्ण ग्रन्थों के धार्मिक एवं नीति सम्बन्धी पद्यों का संग्रह कर कुछ समय पहले आपने हिन्दी अर्थ सहित "अर्हत् प्रवचन" के नाम से एक संकलन प्रकाशित किया था जो तीन विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में स्वीकृत है। इस संकलन का सभी ने स्वागत किया है।

प्रस्तुत पुस्तक "प्रवचन प्रकाश" भी इसी दिशा में एक और प्रयास है। इसमें संस्कृत के प्राचीन जैन ग्रन्थकारों-आचार्य उमास्वाति, पूज्यपाद, जिनसेन, गुण-भद्र, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र, धनञ्जय आदि के ग्रन्थों के महत्वपूर्ण पद्य हिन्दी अर्थ सहित संकलित हैं। इनके पढ़ने से बड़ा आनन्द आता है। संकलित पद्य स्थायी महत्व के हैं। इनका किसी सम्प्रदाय विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे संकलनों के कुछ अंश पाठ्य पुस्तकों में रखे जाने चाहिए जिससे छात्रों में सदाचार की ओर आकर्षण एवं प्रवृत्ति हो।

यह सारा संकलन आकर्षक एवं उपदेश-प्रद सूक्तियों से भरा हुआ है। इसके कुछ नमूनों का रसास्वादन पाठक यहां करें तो उन्हें अवश्य प्रसन्नता होगी।

सत्यं यूपस्तपो वह्निः मानसं चपलं पशुः।
समिधश्च हृषीकाणि धर्मयज्ञोऽयमुच्यते॥

सत्य ही यूप (पशु को बांधने का खूंटा) है, तप ही अग्नि है। चपल मन ही पशु है और इन्द्रियां ही यज्ञ काष्ठ है। यही धर्म यज्ञ है।

यजमानो भवेद्दात्मा, शरीरं तु वितर्दिका ।
पुरोडाशस्तु संतोषः परित्यागस्तथा हविः ॥

आत्मा यजमान है, शरीर वेदी है, संतोष पुरोडाश (यज्ञाहुति के लिए कपाल में पकाई गई जौ आदि के चूर्ण की टिकिया अथवा खीर) और बाह्य पदार्थों का त्याग हवि (हवन करने योग्य वस्तु) है ।

आत्मा के विषय में कुछ स्थायी मूल्य के विचार मनन करने योग्य हैं:—

तद्ब्रूयात् तत्परान् पृच्छेत्, तदिच्छेत् तत्परो भवेत् ।
येनाविद्यामयं रूपं, त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥

उसी तत्त्व के विषय में वाणी द्वारा बोलना चाहिए, उसी तत्त्व के विषय में दूसरों से प्रश्न करना चाहिए, उसी तत्त्व की कामना करना चाहिए और उसी तत्त्व में लवलीन होना चाहिए जिसमे यह आत्मा अविद्यामय रूप को छोड़कर विद्यामय रूप को प्राप्त हो ।

जातिलिङ्गविकल्पेन, येषां च समयाग्रहः ।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥

जाति और वेष के विकल्प से जिन्हें अपने सिद्धान्तों का आग्रह होता है वे आत्मा के परम पद को कभी प्राप्त नहीं हो सकते ।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह ग्रन्थ नैतिक शिक्षा के प्रचारके लिए अत्यन्त उपयोगी है और इसे पाठ्यक्रम में रखा जाना चाहिए ।

श्री चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश व हिन्दी साहित्य एवं विशेषतः जैन साहित्य व दर्शन के उच्चतम कोटि के विद्वानों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं । वे एक आदर्श अध्यापक ही नहीं अपितु स्वतः एक मूर्त संस्था भी हैं । आप अपनी बहुमूल्य कृतियों द्वारा संस्कृत साहित्य व हिन्दी साहित्य विशेषतः जैन साहित्य व दर्शन को पहले ही समृद्ध कर चुके हैं । आपने अपनी इस नवीन कृति 'प्रवचन-प्रकाश' द्वारा प्राच्य-विद्या प्रेमियों को और भी अधिक ऋणी बना दिया है । ऐसे विद्वान्, जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन साहित्य-सेवा में समर्पित किया है, की महत्वपूर्ण एवं अधिकृत देन के प्रशस्तिकरण में मुझे जो अपार हर्ष का अवसर प्राप्त हुआ है, उसमे मुझे अत्यधिक सन्तोष है ।

सी. स्कीम, — के. माधवकृष्ण शर्मा
जयपुर-१ — (निर्देशक संस्कृत शिक्षा, राजस्थान)

उपोद्घात

इस संकलन में अठारह अध्याय हैं जिनमें प्रथम अध्याय में आत्मा का वर्णन है अतः सर्व प्रथम यहां आत्मा के विषय में कुछ विवेचन किया जाता है।

आत्मा संसार का सर्वोत्तम पदार्थ है; क्योंकि विश्व की सारी व्यवस्था विवेचन और विश्लेषण का आधार वही है, किन्तु सदा से ही वह एक पहेली बना हुआ है। यद्यपि संसार के सभी महान विचारकों ने इसका वास्तविक स्वरूप समझने के लिए गहराई से विचार किया है और इसको विभिन्न रूपों में देखा है, अनुभव किया है, किन्तु समस्या ज्यों की त्यों है एवं आज भी वह अपना समाधान चाहती है। जब हम इस सम्बन्ध मे एक लेखक के विचार पढ़ते हैं कि बीस लाख वर्ष तक पूर्वी साइबेरिया मे सोये पड़े छिपकली वर्ग के एक सेला मेंडर प्राणी को उठाकर, पांच साल तक अलकोहल में रखने के बाद पानी में छोड़ देते हैं और वह आंखें खोल देता है। इसी प्रकार गंधक के तेजाब मे क्वथनांक के ऊपर हिमांक के नीचे कहीं भी जिन्दगी की धड़कनें सुनी जा सकती हैं तो फिर हमारे सामने पुराना चार्वाक दर्शन आजाता है जो कहता है कि आत्मा कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है। हम उसे नास्तिक कह कर चाहे चुप कर दें किन्तु यह कोई समस्या का समाधान नहीं है। चार्वाक को नास्तिक कह डालने की अपेक्षा ज्यादा बेहतर यह है कि जीव या आत्मा को इस प्रकार सिद्ध किया जाय कि उसके अस्तित्व के विषय में किसी को कोई सन्देह ही न रहे। किन्तु इस ओर आस्तिक कहलाने वालों का भी उतना ध्यान नहीं गया है जितना जाना चाहिए। प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थों में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए चार दलील दी गई है और वे इस प्रकार हैः—

तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः।
भूतानन्वयनात् सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥१॥

अर्थात् उसी दिन उत्पन्न हुए बच्चे की स्तन पीने की इच्छा होने से, राक्षसों के अस्तित्व से, पूर्व जन्म के स्मरण होने से एवं आत्मा में पृथिव्यादि भूतों का अन्वय न देखे जाने से उसका अनादि अनन्त अस्तित्व सिद्ध होता है।

यदि आत्मा अनादि अनन्त न होता तो उत्पन्न होते ही बच्चे को अपनी मा के स्तन पीने की इच्छा कभी नहीं होती, क्योंकि ऐसी इच्छा तभी हो सकती है जब

पहले कभी माता का दूध उसने पीया हो। ऐसी प्रवृत्ति के लिए इष्टसाधनता का ज्ञान होना बहुत आवश्यक है और यह तभी संभव है जबकि पहले ऐसी अनुभूति हो चुकी हो। यह आत्मा को सनातन सिद्ध करने के लिए एक दलील है।

आत्म-सिद्धि के लिए दूसरी युक्ति यह है कि मरने के बाद कभी २ मनुष्य आदि यह कहते सुने जाते हैं कि वे मरकर भूत पिशाच या राक्षस होगये हैं। यद्यपि ऐसी सभी घटनाएं सच्ची नहीं होती; किन्तु ऐसी हजारों घटनाओं में यदि एक भी सच्ची हो तो आत्मा को नित्य सिद्ध करने के लिए वह पर्याप्त है।

ऐसी भी बहुत सी घटनाएं होती हैं जो पूर्व जन्म की स्मृति को सिद्ध करती हैं। यद्यपि ऐसी घटनाओं पर विश्वास करने के लिए ठोस प्रमाणों एवं आधार की जरूरत है फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि ये घटनाएं शतप्रतिशत गलत ही होती हैं। यह आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए तीसरी दलील है।

और चौथा तर्क इस सम्बन्ध में यह है कि आत्मा में पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों के क्रमशः धारण, द्रव, ज्वलन और ईरण (प्रेरण) नाम के गुण नहीं देखे जाते अर्थात् आत्मा उक्त पृथिव्यादि भूतों की तरह किसी को पकड़ने का, बहने का, जलने और प्रेरित करने का गुण नहीं रखता। इसलिए उसे उक्त चार भूतों के द्वारा उत्पन्न हुआ नहीं माना जा सकता

सभी भारतीय आस्तिक दर्शनों की आत्मा के लिए ये चारों सामान्य दलीलें है, किन्तु स्वरूप निर्धारण आदि के विषय में उनमें मतैक्य नहीं है। चार्वाक की तरह कुमारिल भट्ट और उसका गुरु प्रभाकर आत्मा को मूर्त मानता है। आत्मा के विषय में ये दोनों दर्शन यह मानते हैं कि वह व्यापक है; किन्तु प्रति शरीर में भिन्न २ है। वह कर्त्ता, भोक्ता और द्रष्टा है पर वह ज्ञान सुखादि रूप नहीं, अपितु ज्ञान सुख दुःख इच्छा आदि गुणों का समवायो है। किन्तु वह मानता है कि ज्ञान शक्ति उसके अतिरिक्त किसी भी पदार्थ में नहीं रहती और उसका विनाश कभी नहीं होता। प्रत्येक जीव अपने किये हुए पुण्य पाप से जन्म, जाति, आयु और भोगों को इस लोक और परलोक में प्राप्त होता है। प्रारब्ध कर्मों का भोग के द्वारा विनाश करके आत्मज्ञान से वह मुक्त होता है किन्तु मोक्ष केवल दुखाभाव मात्र है, सुख स्वरूप नहीं है। उनका यह भी कहना है कि मुक्तात्मा को न स्वरूप ज्ञान होता है और न स्वातिरिक्त ज्ञान; क्योंकि उसके न इन्द्रियां होती हैं और न मन। वह तो केवल स्वरूप मात्र ही अवस्थित रहता है।

किन्तु बौद्ध दर्शन आत्मा के विषय में दूसरी ही मान्यताएं रखता है। वह आत्मा को नित्य नहीं मानता और न व्यापक ही मानता है। वह प्रतीत्यसमुत्पाद को मानने वाला दर्शन है जिसमें द्रव्य की सत्ता ही स्वीकार नहीं की गई। निरन्तर परिवर्तमान क्षण प्रवाह के अतिरिक्त वस्तु की सत्ता यह दर्शन नहीं मानता। यह तो क्षणिक विज्ञान को ही आत्मा मानता है। नित्य विज्ञान को आत्मा मानने वाले वेदान्तियों से यह दर्शन बिलकुल उलटा है। यद्यपि बौद्ध जातकों में महात्मा बुद्ध के पूर्वजन्मों की बोधिसत्व के रूप में अनेक कथायें वर्णित हैं जो आत्मा के अमरत्व को सिद्ध करती हैं; किन्तु उक्त कथाओं का ठीक तालमेल बैठाने के लिए बौद्ध दर्शन द्वारा क्षणिक चित्त प्रवाह में संतान की कल्पना की गई है तो भी इसमें कोई शक नहीं है कि बौद्ध दर्शन एक नैरात्म्यवादी विचार धारा है। वह आत्मा को अनादि अनन्त स्वीकार नहीं करता अन्यथा वह निर्वाण का स्वरूप दीप के बुझने के समान कभी नहीं मानता। उसका निर्वाण के विषय में निम्न लिखित अभिमत है:-

दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित्,
नैवावनिं गच्छति नान्तरीक्षम्।
दोपो यथा निर्वृतिमभ्युपैति,
क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥

अर्थात् न आत्मा दिशा को जाता है न विदिशा को एवं न पृथ्वी को जाता है और न आकाश को। जैसे दीपक बुझ जाता है वैसे ही क्लेशों के क्षय से आत्मा भी शान्त हो जाता है। यही आत्मा का निर्वाण है। 'प्रदीपनिर्वाणकल्पमात्मनिर्वाणम्' अर्थात् दीपक के बुझने की तरह आत्मा का बुझ जाना ही आत्म-निर्वाण है। बौद्ध दर्शन की हीनयान शाखा के सौत्रांतिक और वैभाषिक तथा महायान शाखा के विज्ञानाद्वैतवाद और शून्यैकान्तवाद इस प्रकार चारों दर्शन विश्व के चेतन और अचेतन सभी पदार्थों को क्षणिक मानते हैं। अतः आत्मा भी उसके मत में सर्वथा क्षणिक है।

किन्तु इसके विपरीत सांख्य दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है और कहता है कि उसमें किसी भी तरह का परिवर्तन नहीं हो सकता। वह यह भी कहता है कि ज्ञान आत्मा का धर्म नहीं अपितु प्रकृति का धर्म है। आत्मा चेतन जरूर है किन्तु यह जरूरी नहीं है कि जो चेतन हो वह ज्ञाता भी हो। उसका कहना

है कि आत्मा में ज्ञान तभी तक रहता है जब तक कि वह शरीर सहित है। शरीर नष्ट होते ही मुक्तात्मा केवल चेतन रह जाता है, ज्ञानवान नहीं। आत्मा के विषय में उसका यह भी कहना है कि वह केवल भोक्ता है, कर्त्ता नहीं। कर्त्ता तो केवल प्रकृति ही है।

सांख्य की तरह नैयायिक और वैशेषिक भी आत्मा को नित्य मानते हैं किन्तु वे उसको ज्ञानवाला भी मानते है। पर उनका यह भी कहना है कि आत्मा ज्ञान वाला है, ज्ञानस्वरूप नहीं है। यदि वह ज्ञान स्वरूप होता तो मुक्तात्मा में भी ज्ञान रहता; किन्तु मुक्तात्मा तो सर्वथा ज्ञान रहित होजाता है। ज्ञानादिक नौ विशेष गुणों के नष्ट होने पर ही तो मुक्ति होती है। ये दोनों दर्शन केवल ईश्वर को ही सर्वज्ञ मानते है मुक्तात्माओं को नहीं।

वैशेषिक, नैयायिक आदि दर्शन आत्मा के दो भेद मानते है-एक ईश्वर और दूसरा संसारी। ईश्वर सदाशिव है वह कभी कर्मबद्ध नहीं होता और कोई भी दूसरा आत्मा किसी भी दृष्टि से उसकी समता नहीं कर सकता। किन्तु इसे सांख्य, भाट्ट, प्राभाकर, जैन और बौद्ध नहीं मानते। आत्मा को व्यापक और सर्वथा नित्य मानने वाले दर्शन है-नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, प्राभाकर और भाट्ट एवं वेदान्ती किन्तु जैन और बौद्ध ऐसा नहीं मानते। जैन दर्शन तो अनेकान्तवादी दर्शन होने के कारण आत्मा को कथंचित् नित्य और कथंचित् अव्यापक मानता है। वह आत्मा को ज्ञान-दर्शनमय, अमूर्त्त, कर्त्ता, स्वदेह-परिमाणवाला, भोक्ता, संसारी, सिद्ध और स्वभाव से उर्द्धगमन करने वाला मानता है किन्तु इन सबके साथ कथंचित् लगा हुआ है। और जैसा कि पहले कहा गया है बौद्ध दर्शन मे तो वह सर्वथा क्षणिक और अव्यापक माना गया है।

आत्मा सक्रिय है या निष्क्रिय ? इस प्रश्न के उत्तर मे नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, प्राभाकर और भाट्ट तथा वेदान्तियो का कहना है कि वह निष्क्रिय है। जैन भी उसे निष्क्रिय ही मानते है किन्तु वे कथंचित् उसे सक्रिय भी स्वीकार करते हैं पर बौद्धों का कहना कुछ और ही है। इस संबंध में मांडलिक नाम के ग्रन्थकार का कहना है कि मुक्तात्मा जगत मे सदा ही चक्कर लगाता रहता है और उसकी सक्रियता कभी समाप्त नहीं होती। यह मान्यता उन दर्शनों के बिलकुल खिलाफ है जो यह मानते हैं कि बंधनमुक्त होजाने के बाद आत्मा सब के ऊपर जाकर ठहर जाता है।

आत्मा के विषय में यह मत-विभिन्नता बतलाने का केवल इतना ही प्रयोजन है कि अब तक मनुष्य इस संबंध में कभी एक मत नहीं हुआ; भले ही इसका कारण उसका आग्रह हो या अज्ञान।

सब मिलाकर यदि हम मानव कल्याण की दृष्टि से आत्मा का विश्लेषण या विवेचन करें तो यह मानना ही अधिक उपयुक्त और प्रशस्त है कि आत्मा अनादि, अनन्त एवं नष्ट नहीं होनेवाला पदार्थ है। शरीर बदलने पर भी वह नहीं बदलता, ठीक ऐसे ही जैसे कपड़ा बदलने पर भी मनुष्य।

आत्मा न जलाया जा सकता है, न छिन्नभिन्न किया जा सकता है, न सुखाया जा सकता है और न गीला किया जा सकता है। उसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि कुछ भी नहीं हैं। बौद्धों के अतिरिक्त इस मान्यता का समर्थन सारे उपनिषद, गीता, सारा जैन वाङ्मय, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक, पातंजल, भाट्ट, प्राभाकर और वेदान्त दर्शन करता है। किन्तु जरूरत इस बात की है कि इसे केवल अपने २ आगमों के आधार पर ही नहीं, दलीलों एवं तर्कों से भी सिद्ध किया जाना चाहिए जिससे सामान्य मानस को दिग्-विभ्रम न हो। आत्मा को अमर मानने वाले सभी दर्शनों का यह पुनीत कर्तव्य है कि वे सब एक होकर आत्मा के अमरत्व को सिद्ध करने के लिए कटिबद्ध होजावें। यह काम करने के लिए साधु सन्तों को सबसे आगे आना चाहिए।

धर्म—

आत्मा के बाद इस संकलन में दूसरा क्रम धर्म को दिया गया है। धर्म के विषय में भी कोई दर्शन या संप्रदाय एक मत नहीं है। अधिकांश संप्रदाय बाह्य क्रिया-काण्ड को ही धर्म मानते हैं। नहाना, धोना, किसी को छूना न छूना आदि बाह्याचार में धर्म को इतना उलझा दिया है कि उसका वास्तविक स्वरूप गौण या दृष्टि से बिल्कुल ही ओझल होगया है। आश्चर्य और खेद की बात तो यह है कि अपने देवी देवताओं के सामने बकरे, भैंसे, भेड़ आदि पशुओं एवं मुर्गे आदि पक्षियों का बलिदान करना भी धर्म मान लिया गया है। बहुत से भोले भाई बहिन तो अपनी संतान को मारकर अपने इष्ट देवता के सामने चढा देना भी धर्म समझते हैं। यह सब अन्ध विश्वास तो है ही, एक भयंकर पापाचार भी है। इस बौद्धिक युग में भी कभी २ इस प्रकार के समाचार सार्वजनिक पत्रों में पढ़कर बहुत ही वेदना होती है। रूढ़ियों का संस्कार मनुष्य के मन पर इस तरह जम जाता है कि वह योंही दूर नहीं हो सकता। उसे दूर करने के लिए घोर प्रयत्न की जरूरत है।

वास्तव में तो धर्म उसे कहा जाना चाहिए जो मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति का साधन हो। जो इसके आध्यात्मिक और भौतिक उत्थान का साधक नहीं हो वह धर्म नहीं, किन्तु अधर्म है। सच तो यह है कि मनुष्य का आध्यात्मिक उत्थान ही वास्तविक उत्थान है। भौतिक सुविधाएं तो उसका आनुषंगिक फल है। इसलिए धर्म की सार्थकता का माप दण्ड भौतिक उत्थान कभी नहीं हो सकता। 'धरतीति धर्मः, ध्रियन्ते तिष्ठन्ति नरकादिगतिभ्यो निवृत्ता जीवास्तेन सुगतौ इति, धरति आत्मानं सुगतौ इति वा धर्मः, रत्नत्रयलक्षण-मोहक्षोभ-विवर्जितात्म-परिणामो वा, वस्तु याथात्म्यस्वभावो वा उत्तमक्षमादिदशलक्षणो वा धर्मः इत्यादि धर्म शब्द की निरुक्तियां अथवा परिभाषाओं का तात्पर्यार्थ भी यही है। इसे यदि थोड़ा विकसित करके कहा जाय तो यों कह सकते हैं कि सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान और सच्चा चारित्र ही यथार्थ धर्म है।

सच्ची श्रद्धा को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य केवल परम्पराओं से प्रभावित न हो तथा लोक मूढ़ता, देव मूढ़ता एवं गुरु मूढ़ता आदि को कभी महत्त्व न दे और जाति-कुल-प्रतिष्ठा आदि का अहंकार कभी अपने मनमें न लावे और न कभी किसी प्रकार का आग्रह करे। मनुष्य की सारी परेशानियों का कारण उसका आग्रह ही है। किसी से घृणा करना, रूढ़ियों का विवेकहीन समर्थन करना, दूसरों के दोषों को देखकर उनको प्रकट करना, गिरते हुए को न बचाना आदि सभी सच्ची श्रद्धा के विरोधी तत्व हैं। जब तक इन्हें दूर नहीं किया जाय सच्ची श्रद्धा की प्राप्ति नहीं हो सकती।

ऐसी सच्ची श्रद्धा से ही ज्ञान की सार्थकता है। नहीं तो सारा ज्ञान निरर्थक है। जो ज्ञान न्यूनता-रहित, अधिकता-रहित, विपर्यय और संदेह-रहित पदार्थ का जैसा स्वरूप है उसे वैसा ही जानता है वही सच्चा ज्ञान है।

किन्तु इस सच्चे ज्ञान की सार्थकता भी तभी है जब कि वह मनुष्य के आचरण में भी उतरे। केवल इतना जान लेना ही धर्म नहीं है और न यह पर्याप्त ही है कि झूंठ बोलना पाप है। उसकी सार्थकता तो तभी है जब इस प्रवृत्ति का वह त्याग कर दे। हिंसा, झूठ, चोरी, तृष्णा, ईर्ष्या, दंभ आदि अनेकानेक राक्षसी वृत्तियों का त्याग करना ही सच्चा चारित्र है। प्राणी मात्र को सुख पहुंचाने के लिए यह अनिवार्य साधन है। दुनियां में इस समय सब मिलाकर छोटे बड़े आठसौ से भी अधिक धर्म हैं फिर भी मनुष्य दुखी क्यों है—यह एक समस्या है।

यह तो और भी अधिक दुख एवं आश्चर्य का कारण है कि ये सभी धर्म परस्पर लड़ते हैं। धर्मों के परस्पर कलह, संघर्ष और युद्ध का इतिहास इतना बीभत्स, भयावह एवं घृणाजनक है कि उसे पढ़ सुनकर मनुष्य को धर्म के प्रति कोई वास्तविक आस्था नहीं रहती। जब हमारे सामने इस प्रकार के प्राचीन उल्लेख आते है कि "आसिन्धोः आहिमाद्रेश्च बौद्धानावृद्धबालकान्। यो न हंति स हन्तव्यो ह्यन्यथा पापभाग् भवेत्" अर्थात् सिन्धु से लेकर हिमालय तक जो वृद्धों एवं बालक तक सभी बौद्धों को नहीं मार डालता है उसे मार डालना चाहिए; नहीं तो वह पापी है। आज भी हमारे देश में ही नहीं, समूचे विश्व में धर्मों के कारण उनके अनुयायियो के मन साफ नहीं हैं। कोई भी एक धर्मानुयायी दूसरे धर्मों के विषय में प्रायः हीनत्व की भावना रखता है और अपने धर्म को बड़ा समझता है; नहीं तो क्या कारण है कि वह दूसरे धर्मवालों को अपने ही धर्म का अनुयायी बनाना चाहता है।

जैन–धर्म जिसका दर्शन अनेकान्त अथवा स्याद्वाद है और जो आग्रह को अधर्म मानता है इस सम्बन्ध में अपवाद नहीं है। इसके अनुयायी भी परस्पर इतने अधिक लड़ते हैं कि खुद धर्म को भी शर्म आने लगे। अहिंसा के पुजारी ये जैन भगवान के मन्दिरों में केवल लड़ते ही नहीं कभी २ भगवान के सामने ही उसी धर्म के अनुयायियों की हत्या तक कर देते हैं और हाईकोर्ट तक इनके मुकदमे चले हैं और आज भी चलते है। दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो जैनों की बडी शाखायें परस्पर डटकर लडती हैं। दिगम्बरों मे तेरहपंथ और बीसपंथ को लेकर अदालतों में खूब मुकदमें चले हैं। श्वेताम्बरों में भी कई शाखाएं है। इनमें भी मूर्ति–पूजकों में तपागच्छ और खरतरगच्छ में भी संघर्ष चलता ही रहता है।

यही बात बौद्ध धर्म की हीनयान और महायान शाखा के विषय में है। ईसाइयों के न्यू टेस्टामेंट और ओल्ड टेस्टामेट तथा इस्लाम के शिया और सुन्नी भी इस विपदा मे नहीं बचे हैं। वेद के अनुयायी हिन्दुओं में भी ये झगड़े खूब चलते हैं। एक बार काशी में सन् १६१४ से सन् १६१६ के बीच में जब मैं वहां पढ़ता था तब कांची के प्रतिवादी भयंकर अनंताचार्य वहां आये थे। वे वहां कई दिन रहे किन्तु न तो उन्होंने वहां गंगा स्नान ही किया और न विश्वनाथ के दर्शन ही किये तथा वहां से रवाना होकर जब काशी के राजघाट स्टेशन पर पहुँचे तो टिकटें लेने के बाद वहां उन्हें एक अन्नंभट नाम के विद्वान् का छपा हुआ पर्चा मिला कि तुम्हारा मत वेदबाह्य है। तुम भगवती गंगा में स्नान किये बिना और

विश्वनाथ के दर्शन किये बिना ही यहां से लौट रहे हो। अगर तुम्हारा मत सच्चा है तो हमसे शास्त्रार्थ करो। यह पर्चा पाते ही प्रतिवादी भयंकर अनन्ताचार्य अपने दलबल सहित वापिस काशी लौट आये तथा वहां वैष्णवों एवं शैवों के बीच बांस के फाटक में जबरदस्त शास्त्रार्थ हुआ। दोनों ही एक दूसरे के मत को वेदों के सूक्तों के परस्पर विरुद्ध अर्थ करके वेदवाह्य बतलाते थे। निर्णय तो क्या होता था, तलवारें चल गईं और पुलिस आगई। उस समय काशी के प्रख्यात विद्वान स्व० शिवकुमार शास्त्री बीमार थे। उन्हें पालकी में बिठाकर टाऊनहाल लाया गया और उनके मुंह से यह कहलवाया गया कि विशिष्टाद्वैतवाद के सिद्धान्त बिलकुल वेदवाह्य हैं। दूसरे पक्ष वालों ने शंकर के अद्वैत सिद्धान्त को वेदवाह्य बतलाया। मुझे साम्प्रदायिकता के इस भयंकर ताण्डव को देखकर यह खयाल हुआ कि धर्म संस्था की दुनियां में जरूरत तो है किन्तु सब मिलाकर कहना होगा कि वह अपने उद्देश्य में अभी तक सफलता प्राप्त नहीं कर सकी और आगे भी ऐसा होने की कोई संभावना नहीं दिखती।

बात यह है कि धर्म को जब तक बाह्याचार और रूढियों से पृथक करके नहीं देखा जाय तब तक उसका असली स्वरूप हमारे सामने नहीं आ सकता। धर्मों के बाह्याचार ने मनुष्य में यहां तक आग्रह पैदा कर दिया कि इस आग्रह ने दर्शनों को भी घसीट लिया और उनका काम केवल अपने २ धर्मों की मान्यताओं का समर्थन मात्र करना ही रह गया। आप किसी भी भारतीय दर्शन के ग्रन्थ को उठा कर पढिए उसमें अपने धर्म की मान्यताओं का समर्थन और दूसरे धर्मों की मान्यताओं के खण्डन के अतिरिक्त प्रायः कुछ नहीं मिलेगा। धर्म के वे कल्याणकारी रूप जो क्षेत्रातीत व कालातीत हैं और जिनसे कभी किसी को किसी प्रकार की हानि पहुंचने की सम्भावना ही नहीं हो सकती, सर्व साधारण के जीवन में सामान्यतया परिपोषण पा सकते हैं अगर मनुष्य में बाह्याचार का आग्रह कम हो जाय। किन्तु वास्तविक धर्म का मानव समाज में बहुत कम प्रचार है और उस का कारण यही जान पडता है कि बाह्याचार एवं क्रिया कान्डों के आचरण करने की अपेक्षा अपनी दूषित मनोवृत्तियों पर अंकुश रखना बहुत ही मुश्किल है। किन्तु मनुष्य यदि अपने जीवन को शान्त, सफल एवं लोकपयोगी बनाना चाहे तो उसे केवल क्रियाकान्ड के धर्म की आस्था पर रोक लगाकर अहिंसा, सत्य आदि धर्मों का सच्चा मूल्यांकन करने के साथ २ इनकी प्राप्ति के लिए अपने जीवन को अभ्यस्त बनाना होगा। यह कहने की जरूरत नहीं है कि केवल क्रिया कान्ड का धर्म मनुष्य के लिए सर्वथा भार स्वरूप है। वह महंगा भी बहुत है और परेशानियों से भी

भरा पड़ा है। स्वयं हमारे घरों में ही यह अनेक झंझटों को उत्पन्न कर देता है। इसका थोड़ा बहुत सभी को अनुभव होगा। वास्तव में इसने मनुष्य की उदारता को नष्ट कर इसमें ऐसा 'अहं' भर दिया है जो जाति एवं कुलमद जैसी बुराइयों को उत्पन्न करने का कारण बन गया है। जाति एवं कुल मद एक प्रकार के उन्माद हैं जो मनुष्य की मनुष्यता को आवृत कर देते हैं और उसकी सारी सहानुभूति नष्ट हो जाती है। अगर मनुष्य में दया, सहानुभूति और परोपकार आदि की सद्वृत्तियां न हो तो उसका जीवन ही व्यर्थ है। जगत को स्वर्ग बनाने के लिए धर्म की अनिवार्य आवश्यकता है किन्तु इस आवश्यकता की पूर्ति धर्म के बाह्याचार से कभी नहीं हो सकती। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह इस तथ्य को समझे और धर्म के मौलिक रूप के समझने की प्रवृत्ति को प्रश्रय दे।

कषाय विजय—

धर्म की प्राप्ति तभी हो सकती है जब कषायों का दमन किया जाय और उनका दमन करने के पहले उनका जानना आवश्यक है। अतः धर्म के अनन्तर कषायों का वर्णन किया जाता है। कषाय शब्द का अर्थ हिंसा करना है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये मुख्य कषायें हैं। ये आत्मा की हिंसा करती हैं। इनसे चित्त अस्थिर हो जाता है और आत्मा में शांति नहीं रहती। मन में इनका उत्पन्न होना या सुप्त बने रहना ही आत्म-हनन के लिए पर्याप्त है। क्रोध आने पर किसी को गाली दें या न दें अथवा किसी को हानि पहुँचाए या न पहुँचाए अपनी आध्यात्मिक या शारीरिक हानि हुए बिना नहीं रहती। क्रोधादिक आत्मा के स्वभाव नहीं अपितु विकृति है। इसका सबसे बड़ा सबूत यही है कि क्रोध से हम बहुत जल्दी ऊब जाते हैं। जबकि शान्ति से कभी नहीं ऊबते। यही बात अन्य कषायों के विषय में भी है। यदि क्रोधादिक विकृतिएं आत्मा का स्वभाव होतीं तो वह इनसे कभी नहीं ऊबता। क्रोध से होने वाली हानियां बड़ी ही भयंकर होती हैं। इस भयंकरता के विषय में हजारों उदाहरण दिये जा सकते हैं। किन्तु यहां केवल हम एक घटना देते हैं। यह घटना हिसार (पंजाब) की है। यह सार्वजनिक पत्रों में इस प्रकार प्रकाशित हुई है:—

स्थानीय शरणार्थी कैम्प में रहने वाले एक परिवार की जेठानी और देवरानी में आपस में लड़ाई हो जाने के कारण एक वर्षीय एक बालक की निर्मम हत्या कर दिये जाने के समाचार मिले हैं।

कहा जाता है कि किसी बात पर जेठानी-देवरानी में झगड़ा होगया। जेठानी के लगभग एक वर्ष का एक छोटा लड़का था जो वहीं खेल रहा था। पास ही चूल्हे पर एक पीपे में गर्म पानी में धोने के लिए कपड़े उबल रहे थे। चर्चा है कि क्रोध के अधीन होकर देवरानी ने मौका देखकर बालक को उठाकर पीपे में उबलते हुए पानी में कपड़ों के नीचे दबा दिया। जिससे कोमल बालक का तत्काल प्राणान्त होगया। इतने में बालक की माता आगई और बालक को खेलते हुए न पाकर देवरानी से पूछा। इस पर दोनो में लड़ाई आरम्भ होगई। इसी बीच बालक का पिता भी आ पहुँचा और उसने लड़ाई का कारण पूछा। जिस पर पत्नी ने बताया कि वह कपड़े उबालने के लिए रखकर बाहर चली गई और बच्चा यहीं खेल रहा था और यह (देवरानी) यहीं थी, बच्चे की इसे ही मालूम होगी। पिता को उन दोनों स्त्रियों पर क्रोध आगया और क्रोध में ही अपनी स्त्री को गाली देकर उस पीपे के लात मारी। पीपे के चूल्हे से नीचे गिरते ही बालक का मृत शरीर कपड़ों के नीचे दबा हुआ बाहर निकल पड़ा। उसे देखते ही माता पिता बेहोश होगये। दोनों घरों में यह एक ही लड़का था, जिसकी आपसी लड़ाई में इस प्रकार निर्मम हत्या हुई।

क्रोध वास्तव में शैतान है अतः उस पर काबू पाने का हर तरह प्रयत्न किया जाना चाहिए। क्रोध और मान द्वेष का रूप है जबकि माया और लोभ मान का। इन सब का विस्तार मोह मे है जो संपूर्ण विकारों एवं बुराइयों का एक मात्र कारण है। कुछ लोग व्यावहारिक जीवन के लिए क्रोधादि कषायों का होना जरूरी समझते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है। इनसे किसी भी दृष्टि से कोई लाभ होने की संभावना नहीं है। क्रोध और जोश, मान (अभिमान) और गौरव, माया और चतु-रता, लोभ और जीवन की आवश्यकताओं की आकांक्षा में जो महान भेद है उसका विश्लेषण किये बिना जो लोग क्रोधादिक कषायों की व्यावहारिक जीवन में उपयो-गिता का समर्थन करते हैं वे वस्तु-स्थिति से बहुत दूर हैं। साधु जीवन की तो बात ही बिलकुल अलग है। वहां तो कषायों के थोड़े से अंश की भी गुंजायश नहीं है; किन्तु सचाई यह है कि ये कषायें गृहस्थ जीवन को भी समुन्नत, शान्त एवं उपादेय बनाने में बहुत बड़ी बाधाएं हैं।

कषायें एक प्रकार का अधर्म है क्योंकि कोई कितना भी बाह्य धर्म या बाह्याचार का सेवन क्यों न करे जब तक कषायों की ज्वाला आत्मा में जलती रहती है उसका सारा क्रिया काण्ड व्यर्थ है। ऐसे क्रिया काण्ड से न अपना भला है और न

दूसरे का। धर्म एवं अधर्म को कोई तब तक नहीं समझ सकता जब तक कि कषाय और कषाय-विजय का महत्व न समझे। ये कषायें मनुष्य समाज की व्यापक बुराइयें हैं। जितने २ अंशों में इन पर विजय प्राप्त की जाय उतने २ अंशों में आत्मा में धर्म का प्रकाश प्रस्फुटित होता है--इसमें कोई शक नहीं है।

पाप और उसका निरोध !

पाप-निरोध का कारण कषाय-विजय है। इसलिए पहले कारण का निरूपण कर अब उसके कार्य पाप-निरोध का विवेचन यहां किया जाता है। पाप के पांच भेद हैं-हिंसा, भूंठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। हिंसा का अर्थ है—किसी को किसी भी प्रकार की हानि पहुंचाना। हिंसा का सीधा सम्बन्ध मनुष्य या किसी भी प्राणी के भावों से है। अगर किसी के भाव में हिंसा नहीं है तो उसकी बाह्य क्रिया हिंसा जैसी मालूम होने पर भी वास्तव में हिंसा नहीं है। डा० रोगी का आपरेशन करता है और वह उसकी इस शल्य-क्रिया से मर जाता है; फिर भी डाक्टर को हिंसक या पापी नहीं कहा जा सकता। लौकिक या आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से उसे अहिंसक ही कहा जायगा।

धीवर जो किसी भी जलाशय पर मछलियां पकड़ने के लिए जाल लेकर बैठा है पूर्णतः हिंसक है; भले ही उसके जाल में एक भी मछली न फंसे; जबकि किसान को हल जोतते हुए या कोई भी कृषि का काम करते हुए हिंसक नहीं कहा जा सकता, चाहे उसके इस काम में कितने ही जीवों की मृत्यु क्यों न होजाये, बशर्ते कि उसकी यह प्रवृत्ति किसी भी प्राणी को तनिक भी हानि पहुंचाने की नहीं हो।

जो अपना प्रत्येक व्यवहार विवेकपूर्वक करते हैं और जिनके मन में कभी किसी को किसी प्रकार की हानि या बाधा पहुंचाने के भाव नहीं होते उनके द्वारा अनिवार्य हिंसा होने पर भी उनको हिंसा का दोष नहीं लगता। यह जगत ऐसे सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतम जीवों से भरा हुआ है जिनका पता निर्दोष चक्षुओं से भी नहीं लगता। यह ठीक है कि ऐसे सूक्ष्म जीवों को किसी से भी कोई बाधा पहुंचने की संभावना नहीं है फिर भी ऐसे बहुत से जीव हैं जिन्हें बाधा पहुंचने की संभावना रहती है और उन्हें बचाया भी जा सकता है। इसलिए मनुष्य की प्रवृत्ति ऐसी होनी चाहिए—जिससे किसी भी प्राणी को कोई हानि नहीं पहुंचे।

हिंसा के अवसर पर हमें इस बात का जरूर ही ध्यान रखना चाहिए जिसका

कि जैन शास्त्र पूर्णतया समर्थन करते हैं कि सबसे पहले हम मनुष्य के प्रति की जाने वाली एवं इसके बाद पशु पक्षियों, फिर कीड़े मकोड़ों और इसके अनन्तर वृक्ष, लता आदि की हिंसा का त्याग करें। हिंसा के त्याग का यही क्रम है। जो लोग हिंसा के त्याग के क्रम को वनस्पति से शुरू करते हैं वे बहुत गल्ती करते हैं और जैन शास्त्रों के रहस्य को नहीं जानते।

बहुत से लोग हिंसा का अर्थ किसी को मारना समझते हैं। किन्तु हिंसा का अर्थ इतना संकुचित नहीं है। वास्तव में तो अपने मन में क्रोधादिक विकारों का उत्पन्न होना ही हिंसा है। इसी को स्वहिंसा कहते हैं। स्वहिंसा ही हिंसा का वास्तविक रूप है। अगर हम अपने मन में किसी को हानि पहुंचाने का विचार भी लाते हैं तो वह हिंसा है भले ही किसी की हानि हो या न हो।

वास्तव में अधर्म का एक ही भेद है—हिंसा और धर्म का भी एक ही भेद है—अहिंसा। झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह का संचय तो हिंसा के उदाहरण मात्र हैं। इसी प्रकार सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भी अहिंसा के प्रकारान्तर हैं। आवश्यकता इस बात की है कि जीवन में अहिंसा को उतारने के लिए असत्य आदि पापों को और इनके विपरीत रूपों को अच्छी तरह समझा जाय। अन्यथा पापों का इस लोक और परलोक में जो भवद्य एवं अपायात्मकपना है उसे नहीं समझा जा सकेगा। पापों से होने वाली परेशानियां इतनी गंभीर और बहुमुखी हैं कि मनुष्य का जीवन इनके कारण सभी दृष्टियों से अवांछनीय हो जाता है।

अहिंसा धर्म का सर्वस्व है। अहिंसा के बिना धर्म की कल्पना ही धर्म नहीं अपितु धर्म की विडम्बना है। धर्म का परम ब्रह्म अहिंसा के अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ नहीं हो सकता। वह धर्म निष्प्राण एवं मानव का अभिशाप है जिसमें अहिंसा की प्रतिष्ठा नहीं है। संसार को एक कुटुम्ब बनाने के लिए अहिंसा ही एक मात्र साधन है। इसीलिए योग दर्शन में 'अहिंसा प्रतिष्ठायां वैरत्यागः, जैन दर्शन में 'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्' और वैदिक वाङ्मय से "मा हिंस्यात् सर्वभूतानि" आदि सूक्तों की उपलब्धि होती है। इसमें कोई शक नहीं है कि संपूर्ण जगत के वैर विरोध, दंभ, डाह, ईर्ष्या आदि शैतानों को नष्ट करने के लिए मानव मात्र के प्राणों को अहिंसा से ओतप्रोत करना होगा। किन्तु अहिंसा का यह आदर्श जब तक व्यावहारिक रूप धारण न करे, तब तक यह केवल कल्पना ही कहलाएगी।

सामान्यतः पापों को रोकने के लिए मनुष्य का कर्तव्य है कि वह कभी किसी का अनिष्ट चिंतन न करे, किसी को सताये नहीं, किसी का वध बन्धन नहीं करे। पशु पक्षियों पर भी दया करे। उनके अन्न पान आदि का पूरा खयाल रखे। पशुओं पर कभी अधिक बोझा न लादे और उनके साथ निर्दयता का व्यवहार न करे। इसी प्रकार किसी की निन्दा, चुगली, झूँठी गवाही देना, झूठे पत्र लिखना, किसी की रखी हुई धरोहर का अपलाप आदि पापों से सदा ही दूर रहना चाहिए। ये सब असत्य के रूप हैं और मानव समाज में विद्रोह पैदा करने वाले हैं।

भ्रष्टाचार के जितने रूप हैं वे सब पापों के पर्यायवाची हैं। सरकार के किसी भी प्रकार के टेक्स की चोरी करना, अधिक मूल्य की समान वस्तु में हीन मूल्य की समान वस्तु मिलाकर व्यापार करना, चोरी का माल लेना, तोलने-नापने आदि के साधन कम या अधिक रखना, स्वयं चोरी न करना; किन्तु दूसरों को चोरी के लिए प्रेरित करना या उपाय बताना आदि तस्करता के रूप हैं।

ऐसे साहित्य का निर्माण करना या प्रचार करना अथवा उसे पढ़ाना, पढ़ना जो काम वासना को उत्तेजना देने वाला हो, इसी प्रकार कामुकता को प्रोत्साहित करने वाला वेशभूषा आदि का उपयोग करना भी पाप के मोटे रूप हैं। जो मनुष्य को असमाजिकता की ओर आकृष्ट करते हैं एवं अश्लीलता के प्रचार में सहायक होते हैं—उनसे दूर रहने की जरूरत है।

राष्ट्रद्रोह, समाजद्रोह, माता पिता तथा गुरु—द्रोह आदि से तथा किसी भी प्रकार के अन्याय से धन संग्रह करना एक बहुत बडा पाप है।

आशा पिशाची:

पापों का और आशा का गहन संबंध है; अतः पाप—निरोध के अनन्तर आशा पिशाची का वर्णन किया गया है।

धन की ही नहीं, किसी भी प्रकार की आशा अथवा तृष्णा एक तरह की पिशाची है। इसके अधीन होकर मनुष्य जीवन भर संघर्ष करता रहता है, किन्तु फिर भी उसे पूरी सफलता नहीं मिलती। मानव जीवन की प्राप्ति का जो ध्येय है उसे आशा तृष्णा पर विजय पाये बिना कभी पूरा नहीं किया जा सकता। मनुष्य के प्रशस्त जीवन का आशा-तृष्णा के साथ कोई मेल नहीं बैठ सकता। आशा-

तृष्णा एक प्रकार का संक्रामक रोग है वह दूसरों में भी फैलता है। इसका प्रसार तभी रोका जा सकता है जब तृष्णा की बुराइयों का व्यक्तिगत जीवन में अनुभव किया जाय। संसार के सभी धर्मों ने अपने : साहित्य में तृष्णा—खास कर धन की तृष्णा से होने वाली बुराइयों का विवेचन किया है किन्तु मनुष्य की बड़ी भूल यह है कि वह धन के भीतर सुख पाने का अभ्यासी बना हुआ है। किन्तु धन पाने के बाद भी जब वह भयंकर दुखों से परेशान बना रहता है तब यह कैसे कहा जा सकता है कि धन दुःखों की चिकित्सा है।

और सच तो यह है कि बुराई का कारण धन नहीं अपितु धन की तृष्णा है। इसका विस्तार मनुष्यों के दुखों की परम्परा का विस्तार है

इसलिए मनुष्य का भला इसी में है कि वह आशा पिशाचो के चंगुल से अपना पिन्ड छुडावे अन्यथा उसकी परेशानियां कभी कम नहीं हो सकतीं।

विषय—भोगों की मृग—मरीचिका:

विषय का अर्थ जगत के वे पदार्थ हैं जिनका भोग एवं उपभोग कर यह प्राणी आनन्द मानता है। किन्तु यह आनन्द मानना ऐसा ही है जैसा मरु प्रदेश के क्षार के धरातल पर पडी सूर्य की किरणों को सफेद होने के कारण जल समझकर प्यासा मृग समझता है। जब वह उस प्रदेश पर जल पीने के लिये पहुंचता है तो वहां जल नहीं मिलने के कारण उसे निराश होना पड़ता है। किन्तु फिर भी वह उस निराशा की घटना से शिक्षा ग्रहण नहीं करता और दूसरी जगह भी वैसी ही मरीचिका देखकर दौड़ता है तथा वहां से भी निराश होकर असफल ही लौटता है।

यही हालत संसार में फसे हुए प्राणी की भी है। जहां भी वह आनंद के लिये भटकता है वहां उसे निराश ही होना पड़ता है; क्योंकि आनंद तो आत्मा का धर्म है, जड़ पदार्थों से उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है? यद्यपि यह मनुष्य पानी के लिये बहके हुये मृग को अज्ञानी समझता है। किन्तु क्या ऐसा ही अज्ञान स्वयं भी नहीं करता? वास्तव में पानी के लिये बहके हुये हरिण और काल्पनिक सुख की खोज में बहके हुये मनुष्य में कोई भेद नहीं है। जैसे मृग को जल नहीं मिलता वैसे मनुष्य को सुख शान्ति नहीं मिलती; फिर भी इन दोनों का भटकना जारी रहता है। इसलिये यह कहना उचित जान पडता है कि मनुष्य भी एक प्रकार का मृग है और उसकी मृगतृष्णा हरिण की मृगतृष्णा से भी बडी है—इसलिये कि

वह तो केवल जल के लिए ही भटकता है और मनुष्य के भटकने के हेतु स्वरूप विषयों की तो कोई सीमा ही नहीं है भले ही हम उन सबको एक 'विषय' के नाम से कहदें। यह सभी लोग जानते हैं कि विषय भोगों की आग उनके भोगने से कभी नहीं बुझ सकती, तब तो वह और भी अधिक बढ़ती है ; इसलिये उसे बुझाने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि उसमें और इंधन नहीं डाला जाय। विषयों का भोगना ही एक प्रकार का इंधन है; अतः इसकी समाप्ति ही विषय भोगों की तृष्णा की समाप्ति है।

वैराग्य का काया कल्प:

वैराग्य के काया कल्प से मनुष्य में नई स्फूर्ति, नया चैतन्य और नया जीवन आजाता है। कल्प का अर्थ नीरोगता है। जैसे काया कल्प से शरीर नोरोग हो जाता है वैसे ही वैराग्य से आत्मा में नई स्फूर्ति आजाती है। यह तभी हो सकता है जब आशापिशाची पर आत्मा काबू पाले। किन्तु यह भी हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि वैराग्य का अर्थ घर छोड़ना नहीं है। मनुष्य घर में रह कर भी वैराग्य का आनन्द ले सकता है और उसका फल प्राप्त कर सकता है बशर्ते कि वह वस्तुतः विरक्त हो। नहीं तो वह घर छोड़ कर भी वैराग्य नहीं पा सकता। वैराग्य और वैराग्य की विडम्बना में जो फर्क है साधक को उसे हृदयंगम करना चाहिए। वैराग्य का संबंध किसी वेष, शरीर, आसन या उपकरण से नहीं अपितु सीधा आत्मा से है। जैन शास्त्रों में "भरतजी घर में ही वैरागी" का पूरा समर्थन मिलता है।

जो लोग वैराग्य का दिखावा करते हैं, केवल उसका प्रदर्शन कर लोगों को ठगना चाहते हैं और इसलिए ठगना चाहते हैं कि उन्हें दुनियां से प्रतिष्ठा की प्राप्ति हो जाय। उनके आत्मा का वैराग्य से कभी काया कल्प नहीं हो सकता। ऐसे ठगों की दुनियां में कमी नहीं है। वे गोमुख व्याघ्र के समान होते हैं। ऐसे लोगों का विश्वास कभी नहीं करना चाहिए।

वैराग्य के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपने व्यक्तिगत चरित्र के लिए सतर्क रहे। वह अपना आत्म-निरीक्षण कर अपनी कमियां देखे और उन्हें दूर करने का प्रयत्न करे, इसी में उसका हित है, किन्तु वह यह कभी नहीं भूले कि वैराग्य का अर्थ एकान्त निवृत्ति नहीं है। विकृत्तियों से निवृत्त होकर आत्म-शुद्धि में प्रवृत्त होना ही वैराग्य है। जगत के पदार्थों की क्षण भंगुरता और हेयता को

जो समझता है अनुभव करता है वह जल में कमल की तरह इस दुनियां में निर्लिप्त रहता है, वह जो भी कुछ करता है अनासक्त होकर करता है। अपने एवं दूसरे के वैराग्य को परखने की कसौटी यही है।

इन्द्रिय मनोविजय:

इन्द्रियां और मन परस्पर एक दूसरे को खेंचते हैं फिर भी यह कहना अधिक उपयुक्त है कि इस खेंचातान में मन ही विजयी होता है; इसलिए यह कहना सही है कि मन की विजय ही वास्तविक विजय है और इसीलिए यह ठीक कहा गया है कि "मन: एव मनुष्याणां कारणं बध-मोक्षयो:" अर्थात् मनुष्यों के बंधन और मोक्ष में मन ही कारण है। मन के इस काम में इन्द्रियां भी मददगार हैं; किन्तु वास्तव में मनोविजय के बिना इंद्रिय विजय का कोई अर्थ नहीं होता। अगर कोई आंखों को फोड़कर या उनके पट्टी बांधकर नयन इन्द्रिय के विषय पर विजय पाना चाहे तो यह गलत होगा जब तक कि रूप की ओर आकृष्ट होने वाले मन का नियंत्रण नहीं किया जाय। कोई पुरुष अपनी जननेन्द्रिय के सांकल बांध कर स्पर्शन इन्द्रिय का विजेता नहीं कहला सकता जब तक कि काम वासना से विकृत होने वाले मन पर काबू नहीं पाया जाय। यही बात अन्य इन्द्रियों के विषय मे भी है। इन्द्रिय और मन के विजय का यहां इतना ही अर्थ लेने की जरूरत है कि उन्हें असत् से हटाकर सत् की ओर ले जाने का प्रयत्न किया जाय और इसका भी ध्यान रखा जाय कि यह प्रयत्न सफल भी हो। इसमें कुछ भी संदेह नहीं है कि मनुष्य की सारी विपत्तियों का कारण इन्द्रियों और मन की दासता है। जब मनुष्य इनका दास हो जाता है तो ये नियंत्रणहीन एवं बेलगाम घोड़े की तरह हो जाते हैं और उसे ऐसी जगह लेजाकर पटक देते हैं जहां यातना, पीड़ा, आधि, व्याधि और क्लेशों के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता। आत्मा जब इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण कर लेता है तब शरीर भी उसके वश में हो जाता है। और शरीर, इन्द्रिय तथा मन के कारण से होने वाली सभी विपत्तियों से वह निर्मुक्त हो जाता है। मनुष्य स्वयं ही अपने दुख का कारण है और वह उसे मन तथा इन्द्रियों के अनियंत्रण से प्राप्त करता है। यद्यपि संसार का एक रूप दुख भी है। किन्तु उसे सुख रूप भी बनाया जा सकता है यदि मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लिया जाय क्योंकि इसके सारे दुखों के कारण यही हैं। मनुष्य को दुखों की शिकायत करने की अपेक्षा दुखों के कारण को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। अगर वह इसमें सफलता प्राप्त करले तो फिर दुखों की शिकायत का अवसर बहुत कम रह जायगा। कारणों के बिना कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती यह तो सभी जानते हैं।

मोह द्वंद्व !

मोह द्वंद्व का अर्थ रागद्वेष है। यह रागद्वेष पदार्थों में इष्ट अनिष्ट कल्पना का कारण बनता है। वस्तुतः पदार्थ तो न इष्ट है और न अनिष्ट, वह तो केवल पदार्थ है, ज्ञेय है। यह प्राणी अपने स्वार्थ के वश जगत के पदार्थों में इच्छानुसार नानाविध कल्पनाएं कर लेता है। यही इसके दुख का कारण है। जो मनुष्य हमें अच्छा लगता है जिसमें हमारा रागभाव है; जो हमारे स्वार्थ का साधन बन सकता है वह हमारे लिये सज्जन और जो ऐसा नहीं होता उसे हम दुर्जन कहने लगते हैं। जिसे हम सज्जन या दुर्जन कहते हैं उसे कोई दूसरा आदमी दुर्जन या सज्जन भी कह सकता है। जो आज प्रतिकूल होने के कारण हमारा शत्रु है वही क्षण भर बाद अनुकूल हो जाने के कारण हमारा मित्र बन जाता है। जिस पुत्र पर हम अपना अशेष प्रेम उंडेल देते हैं वह हमारे अनुकूल नहीं चलने से हमारे लिये इतना अप्रिय हो जाता है कि हम उसका मुंह भी नहीं देखना चाहते। यही बात स्त्री, माता-पिता आदि चेतन एवं भोजन आदि अचेतन पदार्थों के विषय में है। इसका अर्थ यह है कि जगत की सारी कल्पनाओं का आधार मोह द्वंद्व है।

बहुत से ऐसे पदार्थों पर भी हम अपने मोह द्वंद्व का प्रयोग करते हैं जिनकी प्राप्ति और अप्राप्ति का सम्बन्ध हमारे साथ कभी नहीं जुड सकता। ऐसे पदार्थों के हम स्वप्न भी देखते हैं। स्वप्न में हम उनसे प्रेम भी करते हैं और घृणा भी; किन्तु ऐसी निरर्थक प्रवृत्तियां हमारे मन में केवल क्षोभ ही पैदा करती हैं उनसे हमारा अहित ही होता है, हित कभी नहीं। राग के कारण बहुत से आकर्षक पदार्थों को देखकर उनको हम पालेना चाहते हैं। किन्तु उनकी प्राप्ति हमारे लिये संभव नहीं होती तब हम बहुत दुखी होते हैं। यही बात द्वेष के विषय में भी है। मनुष्य किसी अत्यन्त अप्रिय वस्तु का नाश करना चाहता है किन्तु उसका विनाश तो उसके स्वभाव के आश्रित है। यदि उसका वैसा परिणमन नहीं होना है तो किसी के चाहने से ऐसा कुछ नहीं हो सकता। इसलिए किसी भी वस्तु में अनिष्ट कल्पना करना बिलकुल बेकार है। मोह द्वंद्व मनुष्य की शक्ति को बेकार बना देता है। भगवान वह बनता है जो मोह द्वंद्व पर विजय पालेता है।

मोह द्वंद्व अकारण ही हमें परेशानी में डाल देता है और संघर्ष के राह पर लाकर खडा कर देता है। राग और द्वेष दोनों ही संघर्ष के कारण है। इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट का परिहार ये दोनों हमारे सारे प्रयत्नों की आधारशिला है तथा इनकी

मूल प्रेरणा राग एवं द्वेष में रहती है। यदि मनुष्य किसी भी प्रकार के संघर्ष से बचना चाहता है तो उसे उसके मूलाधार की ओर ध्यान देना चाहिए। वह आधार मोह द्वंद्व है।

साम्यभाव !

रागद्वेष प्राणी में विषमता पैदा करता है। यदि उनका अभाव हो जाय तो उसमें साम्यभाव की प्रतिष्ठा हो जाती है। साम्यभाव एक उत्कृष्ट कोटि की आत्म-वृत्ति है। जिन पदार्थों से मनुष्य का सीधा सम्बन्ध नहीं हैं उन पदार्थों के विषय में भी यह मनुष्य रागद्वेष के कारण इष्टानिष्ट कल्पना कर अपने आपको दुखी बना लेता हैं। हम किसी ऐसे सुन्दर पदार्थ को देखकर जिसकी कि प्राप्ति हमारे लिये असंभव है उसमें राग उत्पन्न करने लगते हैं। यह एक प्रकार का अनर्थ दण्ड है। जब उसकी प्राप्ति ही संभव नहीं है तब उसमें राग करने का क्या प्रयोजन है ? दूर से सांप को देखकर हमारे मनमें जो द्वेषभाव उत्पन्न होता है वह बिलकुल निरर्थक है। कहने का मतलब यह है कि पर पदार्थों के विषय में हमारी अधिकांशतः रागद्वेष से होने वाली अनुकूल एवं प्रतिकूल कल्पनाएं बिलकुल व्यर्थ होती हैं। ऐसी शेख चिल्ली की सी कल्पनाओं से वे लोग भी बच सकते हैं जो घर गृहस्थी वाले हैं, गृहत्यागियों की तो बात ही क्या ? वे तो साम्यभाव के शिखर पर बैठकर के ही अपने मुनित्व की रक्षा कर सकते हैं। हमारे सभी दुखों का कारण हमारी अपनी कल्पनाएं ही हैं। अनादि काल से यह प्राणी इन कल्पनाओं का अभ्यस्त है; इतना ही नहीं यह कल्पनाएं मानो उसकी प्रकृति बन गई है और इसीलिए इन पर काबू पाना इसके लिये कोई सरल काम नहीं है। फिर भी इसमें कोई शक नहीं है कि वह इन पर नियंत्रण पा सकता है। यदि वह इनकी व्यर्थता का अनुभव कर उनको अपने मन में नहीं आने दे तो साम्यभाव की प्राप्ति में उसे अवश्य ही सफलता मिल सकती है। किन्तु यह काम इतना मुशिकल है कि अभ्यास के बिना कभी नहीं हो सकता। इसके लिये सतत अभ्यास की जरूरत है। आध्यात्मिक ग्रन्थों के अध्ययन, मनन और विवेचन आदि से यह अभ्यास हो सकता है। जरूरत नहीं है कि इसके लिए कुटुम्ब आदि का परित्याग किया जाय; क्योंकि साम्यभाव की प्राप्ति तो मन की वस्तु है और उसे मन को नियंत्रित करके ही प्राप्त किया जा सकता है। जीवन को सुखी, समृद्ध और शांत बनाने के लिये साम्यभाव का मूल्यांकन किया जाना बहुत जरूरी है।

साधु !

साधु वह है जो स्व और पर के हित की साधना करता है। यहाँ हित का अर्थ आत्म-शोधन है। आत्मा से क्रोधादिक विकृतियों को दूर करना ही मनुष्य का सब से बड़ा आत्महित है। इसी हित के विषय में किसी आचार्य ने कहा है:—

आदहिदं कादव्वं जं सक्कइ परहिदं च कादव्वं।
आदहिदं परहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं॥

अर्थात् मनुष्य को सर्व प्रथम अपना हित करना चाहिये और यदि सामर्थ्य हो तो पर हित भी करना चाहिए; किन्तु इन दोनों में सर्व प्रथम आत्महित करना चाहिए।

जो इस तथ्य को नहीं समझता वह साधु नहीं है। जो लोग साधुत्व का अर्थ केवल बाह्य वेष से जोड़ते है वे तुषों को ही कण मान लेने के अपराधी हैं। वास्तव में कोरे वेष का महत्त्व तो इतना भी नहीं है जितना अनाज के स्थानों में तुषों का होता है।

साधु पवित्रात्मा होता है। जगत का कोई प्रलोभन उसे अपनी ओर नहीं खेंच सकता। वह लोकैषणा, धनैषणा एवं संघैषणा से परे पहुंच जाता है। जो साधुसंस्था के शासक आचार्य होते हैं वे साधुओं के शासन के विषय में अपनी जिम्मेवरी का पूरा खयाल रखते हुए कभी यह बात नहीं भूलते कि उनके मन को लोकैषणा और धनैषणा की तो बात ही क्या संघैषणा का छोटा से छोटा धब्बा भी कलंकित न करे।

साधु को पहिचानने के लिये हमें अपने विवेक का पूरा प्रयोग करना चाहिए; नहीं तो अपूज्यों की पूजा होने लगेगी और कौवे को भी वह सम्मान मिलने लगेगा जो केवल हंस को ही मिलना चाहिए यह बात हमारे मन से कभी ओझल नहीं होना चाहिए कि कनकाचल पर बैठा हुआ भी कौवा कौवा ही रहेगा। उसे केवल वहां बैठने से हंस का दर्जा कभी नहीं मिल सकता।

सच्चे साधुत्व की जो कसौटी है उस पर कस कर साधु को यथोचित सम्मान देना साधुओं में रहने वाली कमियों को निकाल कर बाहर करने में सहायक होता

है। यह उत्तरदायित्व गृहस्थों को अपने ऊपर लेना चाहिए। पूज्य की अपूजा और अपूज्य की पूजा एक बहुत बड़ा व्यतिक्रम है। यह व्यतिक्रम सदा से चला आ रहा है किन्तु इसमें रोक लगने की बहुत बड़ी जरूरत है। पहिले भी ऐसी रोकें लगायी गई हैं। हमारे देश में साधुओं का इतना अधिक सम्मान है कि उनको भगवान माना जाता है। इस सम्मान की कोई सीमा नहीं है। इसमें कोई शक नहीं है कि निष्कलंक साधुत्व को पर्याप्त एवं यथोचित सत्कार पुरस्कार दिया जाना गुणों के समुचित मूल्यांकन करने की अभिव्यक्ति है; किन्तु यह प्रतिष्ठा भेष एवं बाह्याडंबरों को कभी नहीं मिलना चाहिए। भेष की पूजा का अर्थ है माया की पूजा, छल, प्रपंच और वंचना की पूजा।

हमारे देश में साधुओं की कमी नहीं है। इतने साधु साधुभेषधारी कहीं भी नहीं है। कहा जाता है कि साठ लाख से भी अधिक साधु भेषी हमारे देश में हैं और उनमें अधिकांश जगत को नाना रूपों में ठगते रहते हैं और गुलछर्रे उड़ाते हैं। लोगों का यह अविवेक नये पाखंडियों के निर्माण में बहुत मदद देता है।

किन्तु खोजने पर ऐसे साधु भी मिल तो सकते हैं जो लोकैषणा एवं सभी प्रकार की एषणाओं से सदा दूर रहते हैं और भेष को कभी महत्व नहीं देते। ऐसे संतों का साधुत्व इतना तेजस्वी हो जाता है कि सम्राट् भी उनके सामने नत-मस्तक बन जाता है।

एक बार यूनान के महात्यागी देवजानस के सामने जगत का ऐतिहासिक सम्राट सिकंदर आकर खड़ा हो गया; पर इस महात्यागी ने उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। तब आश्चर्य चकित होकर सिकंदर ने कहा देवजानस! तुम्हारे सामने महावीर सिकंदर खड़ा है, देखते नहीं हो; किन्तु फिर भी निश्चल भाव से वह बैठा रहा! तब सिकंदर ने कहा तुम कुछ मुझ से मांगो। इस पर उस महायोगी ने कहा कृपाकर आप सूरज और मेरे बीच में से हट जाइये। देवजानस की यह मांग सुनकर सिकंदर ने आश्चर्य करते हुए यह कहा कि अगर मैं सिकंदर न होता तो देवजानस होना चाहता।

ऐसे ही सिंधु नदी के तट पर कल्याण मुनि नामक एक नग्न जैन साधु बैठे थे। संयोगवश सिकंदर वहां भी आ पहुंचा और जब उसने देखा कि कल्याण मुनि ने उसका कोई आदर सत्कार नहीं किया तो उसने म्यान में से अपनी तलवार निकाली। मुनि उसकी इस हरकत पर हंसने लगे और उन्होंने कहा कि दुनियां

की कोई तलवार मुझे नहीं मार सकती। मुनि की यह बात सुनकर वह चकित रह गया और उसके हाथ से तलवार गिर पड़ी।

ये दोनों ऐतिहासिक उदाहरण हमें बतलाते हैं कि साधु लोकैषणा को कोई महत्व नहीं देते। उनके सामने सम्राट और अन्य लोग मनुष्य के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। वर्तमान साधुओं का कर्तव्य है कि वे इस तथ्य पर गहराई से ध्यान दें और शासन के आसन पर बैठे हुये लोगों के सान्निध्य से कीर्ति बटोरने का प्रयत्न नहीं करें। वे हमेशा राजनीति से दूर रहें। इसीमें उनका और जगत का भला है। आज भी सच्चे साधुओं की उतनी ही जरूरत है जितनी पहिले थी। जो बिना बोले ही अपने उदाहरण से जगत को सदाचार का पाठ पढ़ाकर उसकी सभी ऐहिक और पारलौकिक समस्याओं का समाधान कर सकते हैं वे निःसन्देह संसार के शिरोमणि हैं। इसीलिये जैन शास्त्रों में "णमोलोए सव्व साहूणं" के द्वारा लोक के सभी साधुओं को प्रणाम किया गया है।

परमेश्वरोपापना !

जिसके बाह्य एवं अभ्यन्तर सभी कर्म विकार विनष्ट हो गये हैं वही परमेश्वर है। हर एक मनुष्य में परमेश्वर या परमात्मा बनने का सामर्थ्य है। इस सामर्थ्य को कर्मों ने रोक रखा है। ज्यों ही कर्मों का आवरण दूर होता है आत्मा की परमेश्वरता प्रकट हो जाती है; ठीक ऐसे ही जैसे सूर्य पर से बादलों का आवरण हट जाने पर उसका संपूर्ण प्रकाश प्रकट हो जाता है। यह आत्मा अनंतशक्ति का भंडार है। यह अनंत ज्ञान और अनंत सुख के वैभव से लबालब भरा पड़ा है। किन्तु यह वैभव तब तक प्रकट नहीं हो सकता जब तक कि कर्मों का कठोर आवरण छिन्न-भिन्न नहीं हो जाता। मनुष्य को अभ्रांत भाव से यह तथ्य समझने का प्रयत्न करना चाहिये। इससे उसे एक दैवी प्रेरणा मिलेगी और उसका दुख, दौर्गत्य और दारिद्रय दूर होगा।

परमेश्वर की उपासना मनुष्य को परमेश्वर बनने में मदद देती है। जो उपासना मनुष्य को परमेश्वरत्व की ओर नहीं लेजा सकती वह उपासना नहीं अपितु उसका दंभ है। ऐसे दंभों की जगत में कमी नहीं है। उपासना के द्वारा जो जगत के बाह्य पदार्थों को सिद्ध करना चाहता है एवं जिनकी प्राप्ति ही जिसकी उपासना का उद्देश्य है वह उपासना के महत्व को कभी नहीं समझ सकता। जगत के विभिन्न संप्रदायों में उपासना के विभिन्न रूप प्रचलित हैं। किन्तु यह मनुष्य

उन रूपों को शायद ही कभी विवेक की कसौटी पर कसता हो। वह उपासना की परम्पराओं से इतना अधिक चिपका रहता है कि उनके खिलाफ कुछ सुनना ही नहीं चाहता। इसमें संदेह की कोई गुंजायश ही नहीं है कि उपासना के बाह्य रूप केवल संघर्ष के कारण बनकर उसकी असलियत को खत्म कर देते हैं। ऐसे लोग भी इस दुनियां में विद्यमान हैं जो अपने देवी देवताओं के सामने बकरे भैंसे आदि की बात तो दर किनार अपने पुत्र पुत्रियों तक का शिर काट कर चढ़ा देते हैं और उसे परमेश्वर की उपासना जैसे पवित्र नाम से व्यवहृत करते हैं। आश्चर्य है कि इस जागृति के युग में भी ऐसे लोगों का अभाव नहीं है जो इस प्रकार के घृणित कार्य करके भी लज्जित नहीं होते और उसे परमेश्वरोपासना जैसा नाम देने की हिमाकत करते हैं।

परमेश्वरोपासना के अनेक प्रकार ऐसे भी है जो विभिन्न संप्रदायों में अनावश्यक संघर्ष पैदा कर विद्रोह के कारण बन जाते हैं। ऐसे प्रकारों के विषय में केवल वे लोग झगड़ते है जो उपासना के तत्त्व को नहीं समझते। इस बात को नहीं भूलना चाहिये कि उपासना कभी पर-सापेक्ष नहीं होती वह तो स्व-सापेक्ष होती है। जहां पर-सापेक्षता आजाती है वहीं संघर्षों की उत्पत्ति हो जाती है और जहां संघर्ष है वहां परमेश्वर की उपासना कभी नहीं पनप सकती। उपासना तो शुद्ध, शान्त एवं पर-निरपेक्ष मनमें उत्पन्न होती है।

स्वाध्याय और ज्ञान-भावना !

स्वाध्याय शब्द का अर्थ है अपने लिये, अपना एवं अपने द्वारा अध्ययन करना। यह अध्ययन एक बहुत बड़ा तप है। इस तप से मनुष्य को कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। ज्ञान मनुष्य की वास्तविक संपत्ति है। इस महान संपत्ति का अर्जन स्वाध्याय के द्वारा ही किया जा सकता है। दूसरों ने ज्ञानार्जन के लिए महान परिश्रम कर जो कुछ अर्जन किया है उसकी पुस्तक रूप मेंसंचित ज्ञान राशि हमारे लिये बहुत उपयोगी है। वह एक ऐसी राशि है जिसे अक्षय कहा जा सकता है। इस अक्षय राशि में से कोई कितना ही क्यों न ग्रहण करे उसमें कमी कभी नहीं आती। हम जितना भी उससे ले सकें लेने का प्रयत्न करें। उससे हम अपना ज्ञान भन्डार भर सकते हैं। एक दीपक से दूसरा दीपक जलाने की तरह हमें उसका उपयोग करने की जरूरत है।

किन्तु स्वाध्याय के प्रसंग में हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि सभी प्राचीन पुस्तकों में संचित ज्ञान राशि हमारे लिए उपयोगी नहीं होती। सब

तो यह है कि बहुत से प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रंथ हमारे लिए उपयोगी तो क्या हानिकर होते हैं और जिन्हें पढ़ने योग्य कहा जा सकता है उनमें भी बहुत सा अंश ऐसा होता है जो सत् साहित्य की कोटि में नहीं आसकता। सच है कि स्वाध्याय बिना विवेक के संपन्न नहीं हो सकता। स्वाध्याय से यद्यपि हमारे विवेक में नयापन आता है। किन्तु यह भी सही है कि यदि हममें अपना ही विवेक नहीं हो तो हम स्वाध्याय के लिए सत् साहित्य की छांट नहीं कर सकते। मनुष्य प्राचीनता के मोह में बहुत से असत् साहित्य को अपने गले में मंढ लेता है और उस पर उसका आग्रह हो जाता है। ऐसा आग्रह ज्ञानार्जन की भावना में बहुत बाधक बन जाता है। किसी भी स्वाध्याय के योग्य ग्रंथ में हमें यह देखने की जरूरत है कि उसमें सत् क्या है और वह किन तथ्यों के आधार पर मिल सकता है। जो यह नहीं समझता कि सत् साहित्य की कसौटी त्रिकालाबाधित लोक-कल्याण है, वह कभी भी असत् साहित्य से सत् साहित्य को अलग नहीं कर सकता। यह एक याद रखने लायक सिद्धान्त है कि साहित्य हमारी मानव संपदा का कारण हो। यदि वह मनुष्य की विपदाओं को जागृत करने का हेतु भी बन सकता हो तो यही समझना चाहिए कि वह कभी सत् साहित्य नहीं हो सकता। अतः ऐसे साहित्य का स्वाध्याय करना बिलकुल व्यर्थ ही नहीं हानिकारक भी है। हमें ऐसे साहित्य के स्वाध्याय से सदा ही दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

गुरु का महत्त्व !

गुरु का अर्थ है भारी, महान अथवा वह जो हित का उपदेश देता है। गुरु के बिना मनुष्य का ज्ञान अंधा है; किन्तु यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो हमीं अपने गुरु हैं। गुरु के देखने की जो व्यावहारिक दृष्टि है उससे हम उस महान पुरुष को भी गुरु कहते हैं जो हमें ज्ञान का प्रकाश देकर असत् से सत की ओर, अंधेरे से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमृत की ओर ले जाता है। ऐसे गुरु की प्राप्ति वास्तव में बहुत दुर्लभ है। गुरु की उपलब्धि के लिये इधर उधर भटकने की अपेक्षा अधिक अच्छा यह है कि मनुष्य अपना गुरु अपने आपको ही बनावे। यह एक बहुत बड़ा लाभ है। इससे मनुष्य को इधर उधर नहीं भटकना पड़ेगा और जो कुछ उसे पाना है वह वहीं मिल जायगा जहां वह स्वयं है। गुरु एवं स्वामी आदि बनने के बीजभूत तत्त्व स्वयं उसमें मौजूद हैं। वह कभी किसी के अधीन रहना नहीं चाहता, वह कभी किसी का नोकर बनना पसंद नहीं करता। वह परतंत्र नहीं अपितु स्वतंत्र होने की आकांक्षा रखता है। यह सब कामनायें बतलाती हैं कि पुरुष स्वामित्व

एवं स्वतंत्रता आत्मा की आधारभूत अभिलाषाएं है और वे अवश्य ही पूरी हो सकती हैं यदि उनके विकास के लिए पूरा प्रयत्न किया जाय। मनुष्य ऐसा कर सकता है। जिन्होंने ऐसा किया है उन्होंने अपना गुरुत्व अपने में ही पा लिया है।

किन्तु एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के रूप में जो गुरु मिलता है उस का भी कम महत्व नहीं है। पर वैसा गुरु वही मनुष्य होता है जिसने अपने में अपने को पा लिया है। ऐसे गुरु के प्रति मनुष्य को कृतज्ञता प्रकट करना चाहिए। उसकी उपस्थिति में अपने आपको प्रमुदित एवं धन्य मानने का अभ्यास ही प्रमोद भावना कहलाती है। ऐसा ही गुरु मनुष्य के भ्रम ताप को हर कर उसके लिये ज्ञान धन की अमृत वर्षा कर सकता है। ऐसा गुरु हम अपने विवेक के प्रकाश में देख सकते हैं। जहां ऐसा प्रकाश नहीं होता वहां गुरु की उपलब्धि कभी नहीं हो सकती। बात यह है कि गुरु का कोई वेश नहीं होता, वह तो छिपा रहता है। वेष का व्यामोह तो गुरुत्व को खत्म कर देता है।

भक्ति !

पूज्य व्यक्तियों में जो अनुराग होता है वही भक्ति कहलाता है। इस अनुराग का कारण पूज्य व्यक्तियों का गुण होता है और उसका लक्ष्य है स्वयं में गुणों की प्राप्ति। यदि भक्त का लक्ष्य यह न हो तो उसे कभी भक्ति नहीं कहा जा सकता। जिस भक्ति का लक्ष्य केवल व्यक्ति पूजा या अन्य कोई स्वार्थ होता है, गुणों की प्राप्ति नहीं, वह भक्ति केवल भक्ति की विडंबना है। ऐसी विडंबनाओं से दूसरे लोग भी ठगे जाते हैं। और यह रोग सारे समाज में फैल जाता है। इससे भक्ति का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है।

भक्ति तो हृदय की वस्तु है, बाह्य आडंबरों से उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। भक्ति में जब कला का प्रवेश हो जाता है तब भक्ति छिप जाती है, और गाना बजाना नाचना आदि कलाएं उस पर हावी हो जाती हैं। इसमें कोई शक नहीं कि कलाओं का अपना अलग महत्व है और वे अपने स्थान पर सुरक्षित रहनी चाहिएं। किन्तु भक्ति का जो महान उद्देश्य है यदि उसे कलाएं दूर पटक दें तो उन्हें भक्ति में बाधक ही समझा जायगा।

यह बात एक भक्त की कहानी से समझ में आ सकती है। एक बार एक कुम्हार का गधा खोया गया। वह उसे ढूंढता-ढूंढता जंगल में चला गया और उसने

उसने गधे के जैसा शब्द एक पहाड़ के पास आकर सुना। वह शब्द एक गुफा की ओर से आ रहा था। वह कुम्हार वहीं पहुंच गया जहां से उस प्रकार का शब्द आ रहा था। वहां आकर उसने देखा तो वहां कोई गधा नहीं अपितु एक आदमी मिला। वह परमात्मा की भक्ति में तन्मय होकर एक गाना गा रहा था। कुम्हार ने उसका हाथ पकड़कर कहा—मुझे माफ करना तुम्हारी आवाज गधे जैसी है। मेरा गधा खो गया है। मैंने ऐसी आवाज से तुम्हें ही अपना गधा समझ लिया था किन्तु यहां आने पर पता लगा कि तुम तो ईश्वर भक्त हो और यहां एकान्त में उसकी भक्ति में मस्त हो।

यह कह कर कुम्हार वहां से चला गया। किन्तु उस भक्त के मनमें विचारों की एक विचित्र लहर दौड़ी। उसने सोचा:—क्या भक्ति का यही फल है कि इतने वर्षों तक भक्ति करते रहने पर भी मेरी आवाज मनुष्य जैसी नहीं हो सकी और एक कुम्हार के द्वारा मैं गधा समझ लिया गया।

वह आंखें मीचकर इस प्रकार के विचारों में निमग्न था कि उसे एक दिव्य मूर्ति का दर्शन हुआ। उसने कहा वह देवदूत है और उसे मधुर मनोरम एवं आकर्षक वाणी का वरदान देने आया है। यह सुनकर वह भक्त बहुत प्रसन्न हुआ; किन्तु जाता हुआ देवदूत उसे कहता गया कि उसकी इस प्रकार की वाणी से दुनियां के लोग जरूर ही प्रसन्न हो जावेंगे; किन्तु इससे वह कभी प्रसन्न नहीं होगा, जिस की वह भक्ति करता है। उसने इतने लंबे अरसे तक भी भक्ति के इस रहस्य एवं तत्त्व को नहीं समझा है कि जो जगत को प्रसन्न करना चाहता है उसको परमात्मा की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। यह वस्तुतः दुख की बात है।

देवदूत की यह आकाशवाणी सुनकर भक्त हक्का बक्का रह गया और बडी तत्परता से बोला कि देवदूत! वापिस लौटो, अपना वरदान वापिस लेते जावो, मुझे जगत को प्रसन्न नहीं करना अपितु परमात्मत्व को पाना है।

भले ही यह कहानी काल्पनिक हो, इसमें भक्ति का रहस्य छिपा पड़ा है। जो गा बजाकर एवं नाच कूदकर जगत का मनोरंजन करना चाहते हैं उन्हें परमात्मत्व की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती, यही इस कहानी की कल्पना का लक्ष्य है।

ध्यान !

ध्यान का अर्थ सब पदार्थों की ओर से मनको हटाकर केवल एक पदार्थ की ओर लगा देना अथवा उसे बिलकुल विचार शून्य बना देना है। ध्यान का सम्बन्ध

सीधा मन से है। मन की सबसे बड़ी सिद्धि यही है कि वह एकस्थ होने में अभ्यस्त हो जाय। किन्तु यह तभी हो सकता है जब वह संकल्प विकल्पों पर विजय पाने में समर्थ हो सके और इस स्थिति के लिए आवश्यक है कि पदार्थों में उसकी इष्ट अनिष्ट कल्पनाओं की परम्परा में रोक लगे और यह तो तभी संभव है जब इसके मूलाधार रागद्वेष के प्रवाह को रोक दिया जाय।

प्रत्येक मनुष्य जानता है कि उसका मन कितना अस्थिर एवं चंचल है। संसार में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो चंचलता में मन की समता कर सके। जब मनुष्य का मन अधिक अस्थिर एवं अस्तव्यस्त हो जाता है तब उसका रूप पागलपन में परिवर्तित हो जाता है जो मन की सबसे निकृष्ट स्थिति है। मन पशु पक्षियों के भी होता है। किन्तु वह मनुष्य के मन की तरह चंचल नहीं होता। इसका कारण यही है कि उन्हें भूत की स्मृतियां नहीं रहतीं और अगर किसी पशु पक्षी को रहती भी हैं तो बहुत कम। उन्हें भविष्य की चिंता भी नहीं होती वे केवल अपने वर्तमान में ही मस्त रहते हैं। यही कारण है कि वे मानसिक दृष्टि से उतने दुखी नहीं होते जितने कि मनुष्य होते हैं। मनुष्य अपने मन का उपयोग अथवा दुरुपयोग केवल अपने आपको दुखी बनाने में करता है। वह पूरा शेखचिल्ली है और वह अपने मनको नाना कल्पनाओं के लिए स्वच्छद छोड़ देता है। आधुनिक वैज्ञानिक मनके पदार्थ पर नियन्त्रण का माध्यम मन से निकली हुये विद्युत चुंबक की तरंगों को मानते हैं और यह भी कहते हैं कि इन तरंगों की विभिन्न लंबाइयां विभिन्न कार्यों को संपन्न कर सकती हैं।

इच्छा शक्ति का संबंध भी मन की एकाग्रता से ही है। पत्रों में समाचार है कि एक रूसी महिला इच्छा शक्ति से चलती हुई घड़ी की सुई को रोक भी सकती है और उसे पीछे भी हटा सकती है तथा मेज पर रखे हुए गिलास आदि पदार्थों को बिना छुए केवल इच्छा शक्तिके द्वारा दूसरे स्थान पर ले जा सकती है। यह बात सही हो सकती है। भारतीय मनीषियों ने मन को ही बंधन और मुक्ति का कारण माना है। जो मनुष्य अपनी एकाग्रता के द्वारा मनको यथावस्थित रखने में समर्थ हो जाता है वह प्रत्येक प्रकार की सफलता प्राप्त कर सकता है। इसमें संदेह की जरा भी गुंजायश नहीं है।

संसार के महान गणितज्ञ, वैज्ञानिक और दार्शनिक मन की एकाग्रता के द्वारा ही अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त कर सके थे। और आज भी यही बात है।

मन की एकाग्रता के लिये आवश्यक है कि मौन रहने का अभ्यास किया जाय। जैन शास्त्रों में गुप्ति और समितियों का जो विश्लेषण किया गया है उसके अध्ययन से पता चलता है कि मन की एकाग्रता के लिए वे सब बहुत जरूरी हैं। बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाएं भी मनुष्य को ध्यान की ओर ही अग्रसर करती हैं। ध्यान के परिकर के रूप में यम-नियम आदि का शास्त्रों में विस्तृत वर्णन मिलता है। बारह प्रकार के तपों में ध्यान का क्रम सब के बाद आता है और इसका कारण यही है कि आत्मा की अशुद्धियों को नष्ट करने में ध्यान ही साक्षात् कारण है। वह तप का अंतिम फल है। ध्यान के अंतिम रूप का नाम शुक्ल है और उसका अर्थ है श्रुतज्ञान की निश्चय पर्यायें। ज्ञान जब संकल्प विकल्पों से दूर हो जाता है तो वही ध्यान कहलाता है; किन्तु यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि ध्यान मन की एक स्थिति है। यही कारण है कि ध्यान वहां नहीं माना जा सकता जहां मन नहीं है। इसलिए मुक्त आत्मा में ध्यान नहीं माना जाता। एक, दो, तीन और चार इंद्रिय वाले वनस्पति, लट, चीटीं और मक्खी आदि के मन नहीं होने के कारण ध्यान की संभावना ही नहीं है। पशु पक्षियों के विषय में भी यही बात है।

बहुत से मनुष्यों का मन निर्बल होता है। ध्यान के द्वारा उसे सबल बनाया जा सकता है। मेसमेरिज्म हिपनोटिज्म आदि वशीकरण की आधुनिक क्रियाएं सबल मन के चमत्कार हैं। पातंजल दर्शन में ध्यान से होने वाली सिद्धियों का आश्चर्यकारी वर्णन मिलता है। इस दर्शन में समाधि के प्रधान दो भेद बतलाये गये हैं। एक संप्रज्ञात समाधि और दूसरी असंप्रज्ञात समाधि। संप्रज्ञात समाधि का दूसरा नाम सविकल्प समाधि या सबीज समाधि भी है। इसी प्रकार असंप्रज्ञात समाधि को निर्विकल्प समाधि या निर्बीज समाधि भी कहते हैं। इनके नामों से ही इनके अर्थ स्पष्ट हैं। संप्रज्ञात समाधि में ध्येय पदार्थ का भान होता रहता है, चिंतन भी चलता रहता है और आनन्द की अनुभूति भी होती है। कल्पनाएं भी काम करती हैं, किन्तु मन ध्येय वस्तु में रमा रहता है और शरीर स्थिर हो जाता है। इस समाधि में ध्यान और ध्येय का भेद करीब २ समाप्त हो जाता है। फिर भी इसमें कल्पनाएं है। वितर्क (शब्द) का सहारा है। इसलिए यह सविकल्प समाधि कहलाती है और कल्पनाएं संसार का बीज है अतः यह सबीज समाधि भी कहलाती है।

दूसरी असंप्रज्ञात समाधि में विकल्प अथवा कल्पनाएं सर्वथा नष्ट हो जाती हैं। एक प्रकार की शून्यता इस समाधि में होती है, कोई ध्येय ही नहीं रहता। विकल्प या

कल्पना ही तो संसार का बीज है। वह बीज इस समाधि में समाप्त हो जाता है अतः इसे निर्बीज समाधि कहते हैं।

ध्यान का सच्चा फल आत्मशक्तियों का प्रदर्शन नहीं अपितु आत्मशुद्धि है। मन सिद्धि के जो लौकिक फल हैं वे तो बिलकुल गौण हैं, भले ही इनसे लोगों को लुभाया जा सके। ये यथार्थ फल नहीं हैं।

मानव स्वभाव !

यदि हम मानव स्वभाव को न पहिचाने तो जगत में कभी अच्छी तरह नहीं रह सकते। दुनियां में दो तरह के मनुष्य हमें उपलब्ध होते हैं—भले और बुरे। जो न अपने लिये अच्छे होते हैं और न दूसरों के लिये वे दुर्जन कहलाते हैं। जो इन लक्षणों से विपरीत होते हैं वे सज्जन कहे जाते हैं। दोनों ही तरह के मनुष्यों से हमारा संपर्क होता रहता है। इस संपर्क के इष्टानिष्ट परिणामों के प्रति मनुष्य को सतर्क रहना चाहिये। किससे किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए यह जानने के पहले यह जानना आवश्यक है कि किसका कैसा स्वभाव है। मनुष्य की समझदारी का एक खास उपयोग यह भी है कि वह मानव व्यवहार में चतुर हो।

'बया' जाति के पक्षी ने बंदरों को वर्षा में भीगते हुए देख कर कहा था कि तुम तो मनुष्य के समान हाथ पैर एवं दूसरे समर्थ अंगों वाले हो, वैसे ही बुद्धिमान भी हो फिर भी हमारी तरह रहने के लिए स्थान क्यों नहीं बना लेते हो? देखो हमने कितने अच्छे घोंसले बनाए हैं, जिन में वर्षा की एक बूंद भी नहीं आ सकती। यह सुनते ही बंदरों ने उन बुद्धिमान पक्षियों के सुंदर एवं मजबूत घोंसले तोड़ मरोड़ कर फेंक दिये। अगर बया पक्षी बंदरों के स्वभाव से परिचित होता तो कभी उन्हें उपदेश नहीं देता। उपदेश हमेशा पात्रों को ही देना चाहिए, अपात्रों को नहीं। जो पात्रापात्र की परीक्षा किये बिना किसी को भी शिक्षा देने का प्रयत्न करता है उसको हमेशा ही दुर्गति होती है और उसका सारा श्रम व्यर्थ जाता है।

जीवन के हर क्षेत्र मे हमें इस बात को परखना चाहिए। अपने ही कुटुम्ब में हमें मानव स्वभाव की जांच करके ही व्यवहार करना चाहिए। हम सुनते हैं और देखते हैं कि पिता पुत्र को और पुत्र पिता को, पति पत्नी को पत्नी पति को मार डालती है। ऐसी दुर्घटनाएं मानव स्वभाव को नही परखने के कारण से ही होती हैं। अगर मनुष्य मानव स्वभाव को परखने की कला में कुशल हो तो वह बहुत सी

विपत्तियों से बच सकता है। मनोविज्ञान हमें यही सिखाता है कि हम मनुष्य के ही नहीं पशु पक्षियों तक के स्वभाव को पहिचानने का प्रयत्न करें। गाय, भैंस, घोड़ा, ऊंट, हाथी, कुत्ता आदि जानवरों के स्वभाव को जानकर अगर उनसे व्यवहार किया जाय तो बहुत से दुष्परिणामों से बचा जा सकता है। मनुष्य के नब्बे प्रतिशत झगड़ों का कारण मानव स्वभाव का ज्ञान नहीं होना ही है। इस प्रकार के संघर्ष, झगड़े एवं कलह घर में, बाजार में, सड़क पर, ट्रेनों, धर्मशालाओं एवं मंदिरों तक में हो सकते हैं और होते रहते हैं। झगड़े का बीज तो वट बीज की तरह बहुत ही छोटा होता है; किन्तु वट वृक्ष के समान उसका इतना विस्तार हो जाता है कि देखकर आश्चर्य होने लगता है।

विविध:—

इस अध्याय में किसी एक विषय के पद्यों का संकलन नहीं है अपितु नाना विषयों के जीवनोपयोगी विषयों का संग्रह है। यह संग्रह जीवन की विविध धाराओं से संबंधित है। मनुष्य के जीवन में इतने स्खलन के स्थान हैं कि वह कहीं भी फिसल कर गिर सकता है। किन्तु वह यदि विविध प्रकाश स्तंभों से प्रकाश लेकर बड़ी सावधानी के साथ चले एवं जीवन के प्रत्येक व्यवहार में विवेक का उपयोग करे तो इन स्खलनों से अच्छी तरह बच सकता है। जब हम अपने संपूर्ण विवेक एवं मनोयोग से दूसरों के अनुभव पढ़ते हैं तब हम पर उनका अवश्य ही प्रभाव पड़ता है तथा अपनी कमियों एवं अच्छाइयों दोनों ही तरफ हमारा ध्यान जाता है और हम अपनी बुराइयां छोड़कर भलाइयों की ओर जाने को उत्सुक होते हैं। इस प्रकार की उत्सुकता हमारे उत्थान की निशानी है।

जरूरत इस बात की है कि ऐसे विविध विषयों का संकलन हमारे सामने हो और इसकी सूक्तियों को हम कंठस्थ करलें। इसी उद्देश्य से यह संकलन किया गया है।

❋ प्रवचन प्रकाश ❋

❋ मंगल ❋

यो विश्वं वेद-वेद्यं जनन-जलनिधेर्भङ्गिनः पारहश्वा ।
पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयम् ॥
तं वन्दे साधुवन्द्यं निखिलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषन्तं ।
बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा ॥१॥

जिसने जानने योग्य सब कुछ जान लिया है, जिसने नानाविध तरंगोंवाले संसार-समुद्र के पार को देख लिया है, जिसकी वाणी पूर्वापर विरोध रहित, लोकोत्तर और निर्दोष है,जो सम्पूर्ण गुणों की खान है, जिसने आत्म-विकाररूप वैरियों का ध्वंस कर दिया है और इसीलिए जो महात्माओं के द्वारा वन्दनीय है उसे मैं प्रणाम करता हूँ; भले ही वह बुद्ध हो, वर्द्धमान हो अथवा ब्रह्मा हो या विष्णु तथा शिव हो।

भवबीजाङ्कुरजनना: रागाद्या: क्षयमुपगता यस्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥२॥

जिसके संसार रूप बीज के अंकुर को उत्पन्न करने वाले रागादि दोषों का क्षय हो गया है उसके लिए मेरा प्रणाम है; फिर भले ही उसका नाम ब्रह्मा हो, विष्णु हो, महादेव अथवा जिन हो।

प्रथम अध्याय

आत्मा

शास्त्रों में आत्मा को सर्वोत्तम पदार्थ कहा गया है। यह उचित ही है, क्योंकि सारे विधि विधानों एवं सम्पूर्ण कर्त्तव्यों का आधार वही है। उसी को केन्द्र

१—अकलंक स्तोत्र ६ पद्य। २—महादेव स्तोत्र ४४।

बनाकर सारे उपदेश व तीर्थंकरों की देशना चलती है। अतः सर्व प्रथम यहां आत्मा का ही विवेचन किया जाता है।

आत्मा के भेद

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु ।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत् ॥१॥

सभी प्राणधारियों में आत्मा है और उसके तीन भेद हैं :- बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। इन तीनों में बहिरात्मा छोड़ने योग्य है और अंतरात्मा परमात्मा बनने का साधन है; अतः अंतरात्मा रूप साधन से परमात्मत्व रूप साध्य को प्राप्त करना चाहिए।

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः ।
चित्तदोषात्म-विभ्रान्तिः परमात्मातिनिर्मलः ॥२॥

जिसको शरीरादिकों में आत्मत्व की भ्रांति हो गई है अर्थात् जो शरीरादिक को ही आत्मा समझता है वह बहिरात्मा है। चित्त-दोष से होने वाली जिसकी आत्म-विषयक भ्रांति चली गई है अर्थात् जो शरीर को नहीं अपितु आत्मा को आत्मा समझता है वह अंतरात्मा है। और राग द्वेषादि कर्ममल के दूर हो जाने से जो अति निर्मल बन गया है वह परमात्मा कहलाता है।

* बहिरात्मा *

बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः ।
स्फुरितश्चात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ॥३॥

बहिरात्मा इन्द्रिय रूप द्वारों से बाह्य पदार्थों के ग्रहण करने आदि में लगा रहता है। वह आत्म-ज्ञान से पराङ् मुख होता है और अपने शरीर में ही आत्मत्व का अध्यवसाय करता रहता है।

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम् ।
परात्माधिष्ठितं मूढ़ः परत्वेनाध्यवस्यति ॥४॥

मूढात्मा (बहिरात्मा) अपने शरीर के समान अचेतन पर देह को देखकर

(१) समाधिशतक-४ (२) समाधि०-५ (४) समाधि०-७ (६) समाधि०-१०

—जो दूसरे आत्मा से अधिष्ठित है—उसमें परत्व का अध्यवसाय करता है अर्थात् दूसरे के शरीर को ही पर का आत्मा मानने लगता है।

स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम् ।
वर्त्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः ॥ ५ ॥

आत्मा के स्वरूप को नहीं जाननेवाले लोगों के अपने और दूसरों के शरीरों में ही स्वपराध्यवसाय (यह मेरा आत्मा है और यह दूसरे का इस प्रकार का निश्चय) होने के कारण यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, यह दूसरे का पुत्र है, यह दूसरे की स्त्री है इत्यादि रूप से विभ्रम उत्पन्न होता रहता है।

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः ।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं जगत् ॥ ६ ॥

शरीरों में आत्म-बुद्धि होनेसे ही यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है इत्यादि रूप से पुत्र भार्यादि विषयक कल्पनाएं उत्पन्न होती हैं। और यह मनुष्य उन्हें ही अपनी सम्पत्ति मानता है। अफसोस है कि यह सारा जगत ऐसे ही कल्पनाओं से आहत है।

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु ।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥ ७ ॥

संसार के अज्ञानी प्राणी मिथ्यात्व रूपी अंधेरे के अधीन होकर अनादिकाल से कुयोनियों में सोये पड़े हैं। वे ऊंची योनियों में आकर भी अपने आत्मा को नहीं समझते और अनात्मीय पदार्थों में आत्मत्व की कल्पना करते हैं। इसे ही वे जागना समझते हैं।

शरीरकञ्चुकेनात्मा संवृतो ज्ञानविग्रहः ।
नात्मानं बुध्यते तस्माद् भ्रमत्यतिचिरं भवे ॥ ८ ॥

आत्मा का शरीर तो ज्ञान है; किन्तु वह देह रूप कंचुक से ढका हुआ है और अपने आपको नहीं समझता। यही कारण है कि संसार में अति चिरकाल तक वह

(७) समाधि०—११ (८) समाधि०—१४ (९) समाधि०—२९ (१०) समाधि०—६८

भ्रमण करता रहता है। अपने ज्ञान का वास्तविक उपयोग नहीं होना ही इसका कारण है।

दृढात्म-बुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः ।
मित्रादिभिर्वियोगं च विभेति मरणाद्भृशम् ॥९॥

शरीर वगैरह बाह्य पदार्थों में आसक्त एवं आत्म-बुद्धि धारण करनेवाला बहिरात्मा अपने विनाश और मित्रादिकों से वियोग की आशंका करता हुआ मरण से अत्यंत डरता रहता है।

आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति ।
नायतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः ॥१०॥

आत्म-तत्त्व के विषय में होने वाली भ्रांति से उत्पन्न हुआ दुख आत्म-ज्ञान से ही नष्ट हो सकता है। उसका दूसरा कोई इलाज नहीं है। यही कारण है कि वह ज्ञान जिन्हें प्राप्त नहीं है वे (बहिरात्मा) परम तप करके भी निर्वाण को प्राप्त नहीं हो सकते।

मूलं संसार-दुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः ।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥५१॥

शरीर में आत्म-बुद्धि रखना ही संसार के दुख का मूल है; अतः इसे छोड़कर अपने भीतर की ओर देखना चाहिए, और यह तो तभी हो सकता है जब बाह्य विषयों में इंद्रियों का रमना बंद हो जाय।

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम् ।
यतोभीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥ १२ ॥

मूढात्मा जिन बाह्य पदार्थों में विश्वास करता है उनसे अधिक जगत में कोई भय का स्थान नहीं हो सकता और जिस (आत्मानुभव) से वह डरता है (दूर भागता है) उससे अधिक कोई अभय का स्थान नहीं हो सकता।

(११) समाधि०-७६ (१२) समाधि०-४१ (१३) समाधि०-१५ (१४) समाधि०-२९

न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः ।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते ॥ १३ ॥

यद्यपि शरीर सुख और दुख का अनुभव नहीं करते; क्योंकि वे जड है तो भी बुद्धिहीन लोग शरीरों में ही निग्रह एवं अनुग्रह की बुद्धि को करते हैं। वे उसको उपवासादि द्वारा दण्ड देते हैं, कृश करते हैं और कपडे-लत्ते, अलंकार आदि द्वारा सजाते हैं।

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत् क्षेमङ्करमात्मनः ।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञान-भावनात् ॥ १४ ॥

इन्द्रियों के विषयों में यद्यपि वैसी कोई भी विशेषता नहीं है जो आत्मा के लिए कल्याणकारी हो, तो भी मूढात्मा अज्ञान-भावना से उनमें ही (इन्द्रियों के विषयों में ही) रमण करता है।

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ ।
स्थिति-भ्रान्त्या प्रपद्यन्ते, तमात्मानमबुद्धयः ॥ १५ ॥

प्रवेश करते हुए और निकलते हुए पुद्गलाणुओं के व्यूह रूप इस देह में सदा वैसे ही आकृति रहने के कारण स्थिरत्व की भ्रांति होने से बुद्धिहीन लोग देह को ही आत्मा समझने लगते हैं।

अविद्या संज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः ।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते ॥ १६ ॥

उससे (इस विपर्यय ज्ञान से) अविद्या नामका दृढ संस्कार उत्पन्न हो जाता है जिससे जन्मांतर में भी जगत का अज्ञानी जीव शरीर को ही आत्मा समझने की भूल करता रहता है।

---

(१५) समाधि०–६१ (१६) समाधि०–५५ (१५) समाधि०–६९ (१४) समाधि०–१२

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा ।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः ॥ १७ ॥

अंतरात्मा सोचता है कि जैसे अज्ञानी जीव (बहिरात्मा) बिना बतलाये आत्म-स्वरूप को नही जानते वैसे वे बतलाने पर भी उसे नहीं जानते; इसलिए ऐसे लोगों को आत्म-स्वरूप के बतलाने का श्रम करना व्यर्थ है।

* अन्तरात्मा *

पश्येन्निरंतरं देहमात्मनोऽनात्म—चेतसा ।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्म—तत्त्वे व्यवस्थितः ॥१८॥

अन्तरात्मा अपने आत्मस्वरूप में व्यवस्थित होकर अपने शरीर को —यह शरीर मेरा आत्मा नहीं है ऐसी अनात्म—बुद्धि से सदा देखता है और इसी प्रकार दूसरे जीवों के शरीरों को भी यह शरीर उनका आत्मा नहीं है— ऐसा वास्तविक रूप मे जानता है।

यदग्राह्यं न गृह्णाति, गृहीतं नापि मुञ्चति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥ १९ ॥

जो कर्मोदय के निमित्त से होने वाले अतएव अग्राह्य क्रोधादि रूपको अपना स्वरूप नहीं मानता और जो गृहीत अपने अनंत ज्ञानादि स्वरूप को कभी छोड़ता नहीं तथा सारे चेतन एवं अचेतन पदार्थों को द्रव्य पर्यायादि रूप से जानता है वह अपने द्वारा अनुभव में आने योग्य चेतन द्रव्य मैं हूं।

येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि ।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥२०॥

न तो मैं नपुन्सक हूं, न स्त्री हूं और न पुरुष। इसी प्रकार न एक हूं, न दो और न बहुत। मैं तो जिस चैतन्य रूप से अपने आत्मा में अपने स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा अनुभव किया जाता हूं उसी चैतन्यस्वरूप शुद्धात्मा हूं।

---

(१३) समाधि०–५८ (१४) समाधि०–५७ (१५) समाधि०–२० (१६) समाधि०–२३

यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः ।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं, तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥ २१[17] ॥

जिस शुद्धात्मस्वरूप की उपलब्धि न होने से मैं गाढ निद्रा में अचेत सोया पड़ा हूं, मुझे कुछ भी हिताहित का विवेक नहीं है और जिस शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति होने पर यथार्थ वस्तुस्वरूप को जानने लगा हूं वही इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य, वचनों के अगोचर एवं अपने ही द्वारा अनुभव में आने योग्य मेरा अपना स्वरूप है ।

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः ।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न, मे शत्रुर्न च प्रियः ॥ २२ ॥

मैं तो ज्ञानात्मक हूं और जब मैं अपने इस रूप को वास्तव में देखता हूं तब मेरे रागादिक विकार स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं । ऐसी स्थिति में न कोई मेरे लिए प्रिय होता है और न कोई अप्रिय । यह तो कल्पना है जो राग द्वेष के कारण जीव में उत्पन्न होती है ।

मामपश्यन्नयं लोको, न मे शत्रुर्न च प्रियः ।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥ २३ ॥

मुझे नहीं देखने वाले यह दुनियां के लोग न मेरे शत्रु ही हो सकते हैं और न मेरे मित्र ही और यदि ये मुझे देखलेते हैं तब तो वे न मुझमें शत्रु की कल्पना कर सकते हैं और न मित्र की । अर्थात् जो मेरे आत्म-स्वरूप को नहीं जानते वे मुझमें शत्रु-मित्र की कल्पना कैसे कर सकते हैं ? क्योंकि यह कल्पना तो परिचितों में ही होती है । और जो मेरे वास्तविक स्वरूप को जानते हैं उनमें तो राग द्वेष का अभाव होने से शत्रु-मित्र की कल्पना का उत्पन्न होना ही सम्भव नहीं ।

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः ।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ॥२४॥

अन्तरात्मा इस प्रकार सोचता है कि जिन पदार्थों को मैं इन्द्रियों के द्वारा

(१७) समाधि०—२४ (१८) समाधि०—२५ (१९) समाधि०—२६ (२०) समाधि०—४६

जानता हूं वे सब तो अचेतन हैं, जड़ हैं उन पर राग द्वेष करना व्यर्थ है; क्योंकि वे कुछ समझ ही नहीं सकते। और जो चेतन हैं– जिन में ज्ञान है वे मुझे दिखाई नहीं देते; तब मैं किससे द्वेष करूं और किससे राग ?

आत्मदेहान्तरज्ञान–जनिताह्लादनिर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं, भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ॥ २५ ॥

आत्मा और शरीर का विवेक ज्ञान होजाने से जो मनुष्य आह्लादित एवं क्षोभ रहित है वह साधना के समय में पुराकृत कर्मों के फलस्वरूप होने वाली यातनाओं को भोगता हुआ भी खेद को प्राप्त नहीं होता।

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥ २६ ॥

अन्तरात्मा का कर्तव्य है कि आत्मज्ञान से भिन्न किसी दूसरे कार्य में कभी अधिक समय तक अपनी बुद्धि को न उलझावे। हां, प्रयोजन–वश अर्थात् परोपकार के लिए (दूसरे के उद्धारार्थ) कुछ करना ही पड़े तो अनासक्त होकर वाणी और शरीर से वह कार्य करे।

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥ २७ ॥

अन्तरात्मा सोचता है कि मैं जो कुछ इन्द्रियों से जगत में देखता हूं वह मेरा रूप नहीं है। वह तो स्पष्टतया पर है किन्तु जब इन्द्रियों को वश में कर उन्हें बाह्य विषयों से हटाकर मैं अपने भीतर आनन्दात्मक उत्तम ज्योति (ज्ञानरूप प्रकाश) को देखता हूं तब अनुभव होता है कि यही मेरा स्वरूप है।

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा।
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ॥ २८ ॥

जैसे वस्त्र गाढा होने पर भी वस्त्र के कारण कोई मनुष्य अपने आपको

(२१) समाधि०–३४ (२२) समाधि०–५० (२३) समाधि०–५१ (२४) समाधि०–६३

गाढा अथवा मोटा कभी नहीं मानता इसी प्रकार विद्वान् आदमी भी शरीर गाढा होने पर भी आत्मा को गाढा नहीं मानता।

जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं, न जीर्णं मन्यते तथा ।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ॥ २९ ॥

जैसे जीर्ण वस्त्र पहने रहने के कारण कोई अपने आप को जीर्ण नहीं मानता वैसे ही विद्वान् आदमी अपना शरीर जीर्ण होजाने पर भी—अपने आत्मा को जीर्ण कभी नहीं मानता।

नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा ।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥ ३० ॥

जैसे कोई भी मनुष्य अपना कपडा नष्ट होजाने पर भी अपने को नष्ट होना नहीं मानता वैसे ही विद्वान् अपने शरीर के नष्ट होने पर भी अपने आत्मा का नाश कभी नहीं मानता।

रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा ।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥ ३१ ॥

जैसे कोई मनुष्य लाल कपड़ा पहने हुए होने पर भी अपने आपको कभी लाल नहीं मानता वैसे ही विद्वान् आदमी अपने शरीर के लाल होने पर भी अपने आत्मा को लाल कभी नहीं मानता।

गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यङ्गेनाविशेषयन् ।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्ति विग्रहम् ॥ ३२ ॥

मैं गौरा हूं, स्थूल हूं और कृश हूं इस प्रकार शरीर के साथ आत्मा को कभी नहीं मिलाना चाहिए, क्योंकि उसका शरीर तो सिर्फ ज्ञान ही है। न वह गौरा है, न काला है, न स्थूल है और न कृश। आत्मा को हमेशा इसी प्रकार चिन्तन करना चाहिए।

---

(२५) समाधि-६४ (२६) समाधि-६५ (२७) समाधि-६६ (२८) समाधि-७०

आत्मन्ये वात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः ।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा, वस्त्रं वस्त्रान्तरग्रहम् ।। ३३ ।।

आत्मा में ही आत्म-बुद्धि रखने वाला अर्थात् अन्तरात्मा (मनुष्य) शरीर के विनाश को तथा उसकी विभिन्न अवस्थाओं को आत्मा से भिन्न मानता है अर्थात् शरीर के विनाश को आत्मा का विनाश नहीं मानता। और न शरीर के परिवर्तन को ही आत्मा का परिवर्तन समझता है। मृत्यु के अवसर पर वह बिलकुल निर्भय रहता है।

यः परात्मा स एवाऽहं, योऽहं स परमस्ततः ।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदितिस्थितिः ।। ३४ ।।

जो परमात्मा है वही मैं हूं और जो मैं हूं वही परमात्मा है। ऐसी स्थिति मे मैं ही मेरे द्वारा उपासनीय हूं दूसरा कोई नहीं। वास्तविक स्थिति यही है।

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः, पतितो विषयेष्वहम् ।
तान् प्रपद्याऽहमिति, मां पुरा वेद न तत्त्वतः ।। ३५ ।।

मैं अनादि काल से आत्मा से च्युत होकर इन्द्रियों के द्वारा विषयों मे पतित हुआ हूं और उन संसार के विषयों को अपना उपकारक समझ कर मैं (आत्मा) इन सबसे भिन्न हूं —ऐसा नहीं समझा।

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा ।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ।। ३६ ।।

जिसे मैं देखता हूं वह बिलकुल नहीं जानता और जो जानता है वह दिखलाई नहीं पड़ता इसलिए मैं किस से बोलूं।

जिस रूप (शरीरादिकों) को मैं देखता हूं वह अचेतन है इसलिए बिलकुल कुछ भी नहीं जानता और जो जानता है वह दिखलाई नहीं पड़ता मैं किससे बोलूं, किससे बात करूं।

---

(२६) समाधि०—७७ समाधि०—३१ समाधि०—१६ समाधि०—१८

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये ।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ।। ३७ ।।

मैं जो दूसरों के द्वारा प्रतिपाद्य (उपदेश दिया जाने के योग्य) बनता हूं और दूसरों का प्रतिपादक (उपदेश देने वाला) भी, सो मेरी यह चेष्टा उन्मत्त की तरह है; क्योंकि मैं तो वस्तुतः निर्विकल्पक हूं—न तो मैं प्रतिपाद्य ही हूं और न प्रतिपादक अर्थात् न मैं किसी का गुरु हूं और न शिष्य । मैं तो वचन के अगोचर हूं ।

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः, स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम् ।
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं, देहादिष्वात्म–विभ्रमात् ।। ३८ ।।

स्थाणु (वृक्ष का ठूंठ) में जिसको पुरुष की भ्रांति होगई है ऐसे मनुष्य की जैसी चेष्टा होती है वैसी ही आत्मज्ञान होने के पहले देहादिकों में आत्मा का विभ्रम होने से मेरी चेष्टा थी । जैसे कोई भ्रमवश ठूंठ से उपकार एवं अपकार की कल्पना करने लगता है वैसे ही शरीरादिक वाह्य वस्तुओं से मैं हिताहित की कल्पना कर मैं सुखी दुःखी हुआ हूं ऐसा अन्तरात्मा विचार करता है ।

यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ, निवृत्ते पुरुषाग्रहे ।
तथाचेष्टोऽस्मि देहादौ, विनिवृत्तात्म विभ्रमः ।। ३९ ।।

जैसे ठूंठ में जो पुरुष का ज्ञान हुआ था वह भ्रम था जब वह भ्रम दूर होगया तब उस से होने वाले उपकार अपकार आदि की कल्पना भी नष्ट होगई । इसी प्रकार शरीरादि में जो आत्मा का भ्रम था वह दूर हो गया अतः उससे होने वाली सुख दुख की कल्पना भी खत्म होगई ।

प्रच्याव्यविषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम् ।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृ तम् ।। ४० ।।

मैं अपने आपको पंचेन्द्रियों के विषयों से हटाकर अपने द्वारा अपने में स्थित ज्ञानस्वरूप एवं परमानन्द से परिपूर्ण आत्मा को प्राप्त होता हूं ।

---

(१) समाधि०–१९ (२) समाधि०–२१ (३) समाधि०–२२ (४) समाधि०– ३२

यद् बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः ।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये ॥ ४१ ॥

जिसको मैं समझाना चाहता हूं, वह मैं नहीं हूं और फिर जो मैं हूं वह अन्य के लिए ग्राह्य नहीं हूं, तब दूसरे को क्या समझाऊं ?

जिस आत्मस्वरूप अथवा देहादिकों को मैं विकल्पों द्वारा समझाना चाहता हूं वह विकल्पाधिरूढ आत्मस्वरूप मैं नहीं हूं और ज्ञानानन्दमय स्वयं अनुभव करने योग्य आत्मस्वरूप जो मैं हूं वह दूसरे जीवों के ग्राह्य नहीं है; अर्थात् उसे वचनों के द्वारा नहीं समझाया जा सकता अतः दूसरे जीवों को मैं क्या समझाऊं ?

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं पङ्गोरन्धे न योजयेत् ।
तथा न योजयेद्देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः ॥ ४२ ॥

जिसको दोनों में भेद का पता है —अर्थात् जो लंगडे और अंधे की भिन्न २ क्रियाओं को जानता है वह जिस तरह लंगडे की दृष्टि को अंधे पुरुष में नहीं जोडता है, अर्थात् अंधे को मार्ग में देखकर चलने वाला नहीं मानता इसी प्रकार आत्मा को शरीरादि पर पदार्थों से भिन्न मानने वाला आत्मा की दृष्टि —ज्ञानदर्शन स्वभाव-को शरीर में नहीं जोडता ।

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्नमे व्याधिः कुतो व्यथा ।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥४३॥

मेरी मौत नहीं हो सकती तब मुझे डरने की क्या जरूरत है । मेरे कोई रोग नहीं हो सकता तब मुझे पीडा कैसे होगी । न मैं बच्चा हूं, न बुड्ढा और न युवा क्योंकि ये सब तो पुद्गल में होते हैं ।

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः ।
बाह्या; संयोगजा भावा मत्तः सर्वेपि सर्वथा ॥ ४४ ॥

मैं एक हूं, निर्मल हूं, शुद्ध हूं, ज्ञानी हूं और जो योगियों के इन्द्र हैं, महान

समाधि०-२६ समाधि०-६२ इष्टोपदेश-२७ इष्टोपदेश-६२

योगी हैं उनके गोचर हूँ उनके द्वारा जाना जाता हूं। दुनियां में जितने भी संयोगज भाव हैं वे सभी सर्वथा मुझ से बाह्य हैं।

* बहिरात्मा और अन्तरात्मा *

विदिताशेषशास्त्रोऽपि, न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥ ४५ ॥

जिसने शरीर को ही आत्मा समझा है ऐसा मनुष्य संपूर्ण शास्त्र जानता हुआ और जागता हुआ भी कर्मों के बंधन से नहीं छूट सकता; किन्तु जिसने अपने आत्मा को अच्छी तरह समझ लिया है वह सोता हुआ और उन्मत्त अवस्था में रहता हुआ भी कर्मों से मुक्त हो जाता है।

ग्रामोऽरण्यमितिद्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः ॥ ४६ ॥

जिन्होंने अपने आत्मा को नहीं देखा-ऐसे लोगों के लिए ग्राम और अरण्य गल) इस प्रकार ठहरने के स्थान के दो भेद हैं; किन्तु जिन्होंने अपने आत्मा को देखलिया है उनका निवास-स्थान तो अपना निश्चल एवं विविक्त (एकांत और पवित्र) आत्मा ही है।

यस्य सस्पन्दमाभाति विस्पन्देन समं जगत्।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः ॥ ४७ ॥

जिस ज्ञानी आत्मा को अनेक चेष्टाओं वाला शरीरादि रूप यह सारा जगत चेष्टा रहित काष्ठ पत्थर आदि के समान चेतनाहीन, जड एवं क्रिया और सुखादि भोग से रहित मालूम होने लगता है वह मनुष्य परम वीतरागतामय शांति सुख का अनुभव करता है; जिसमें कि न मन वचन काय का व्यापार है और न इंद्रिय द्वारों

(३१) समाधि०—९४ (३२) समाधि०—७३ (३३) समाधि०—९७

से विषय का भोग किया जाता है। ऐसे जीवके अतिरिक्त दूसरा (बहिरात्मा) शांति सुख को नहीं प्राप्त हो सकता है।

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ॥ ४८ ॥

आत्म-निरीक्षण की ओर जिसका ज्ञान अप्रकट है ऐसा मूढात्मा बाह्य पदार्थों में संतोष का अनुभव करता है और बाह्य विषयों में जिसकी कोई उत्कंठा नहीं है ऐसा प्रबुद्धात्मा (जागृत मनुष्य) अपने आत्मा में ही संतुष्ट होता है।

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वासो रम्यमेव वा।
आत्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः ॥ ४९ ॥

जगत और देह में जिन्होंने आत्मा को देखा है उनका वहीं विश्वास होता है और उन्हें वेही चीजें रम्य मालूम होती हैं। किन्तु जिन्होंने आत्मा में आत्मा को देखा है उनका अन्यत्र कहां विश्वास और कहां रति हो सकती है।

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥ ५० ॥

देह में जिसको आत्म-मति उत्पन्न हो गई है, जो शरीर को ही आत्मा मानता है ऐसा मनुष्य शुभ शरीर और दिव्य भोगों को वांछा करता है, किन्तु तत्त्वज्ञानी आत्मा इन से सदा दूर रहना चाहता है।

परत्राहं मतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम्।
स्वस्मिन्नहं मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः ॥ ५१ ॥

पर वस्तु-शरीरादि बाह्य पदार्थों में अहं बुद्धि करने वाला आत्मा अपने आप से गिर कर निःसंदेह बंधन को प्राप्त होता है; किन्तु जिसकी केवल अपने आपमें अहं बुद्धि है वह विद्वान पर से हट कर कर्म बंधन से मुक्त हो जाता है।

---

(३४) समाधि–६० (३५) समाधि–४६ (३६) समाधि०–४२ समाधि०–४३

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते ।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्द-वर्जितम् ॥ ५२ ॥

मूढ मनुष्य इस दृश्यमान वस्तु में अर्थात् मनुष्य आदि प्राणियों में स्त्री, पुरुष और नपुसंक लिंग की कल्पना करता है। किन्तु आत्मज्ञानी अन्तरात्मा मनुष्य तो पदार्थ को शब्द वर्जित (अव क्तव्य) मानता है और इदं (यह) के अतिरिक्त पदार्थ में कोई भाग नहीं होता।

*** तुलनात्मक ***

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात् ।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनम् ॥ ५३ ॥

शरीर में आत्मत्व की बुद्धि करना निश्चय से आत्मा को देह का संयोग करवाता है। इसी प्रकार आत्मा में ही आत्म-बुद्धि करना आत्मा का देह के साथ वियोग करने का कारण बनता है।

*** परमात्मा और उसकी प्राप्ति के उपाय ***

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना ।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्वं परमात्मनः ॥ ५४ ॥

सारी इंद्रियों को वश में कर निश्चल अंतरात्मा के द्वारा क्षण भर देखते हुए मनुष्य को जिस तत्त्व का प्रतिभास होता है वही परमात्मा का वास्तविक स्वरूप है।

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।
स पश्यत्यामनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः ॥ ५५ ॥

जिसका मनरूपी जल रागद्वेषादि कल्लोलों से चंचल नहीं होता वही आत्मा

समाधि०-४४ समाधि०-१३ (३७) समाधि०-३० (३६) समाधि०-३५

के तत्त्व को देख सकता है, दूसरा मनुष्य उस तत्त्व को नहीं देख सकता।

जिस प्रकार तरंगों वाले जल में रहने वाली वस्तु का अच्छी तरह ज्ञान नहीं होता वैसे ही राग द्वेष-काम क्रोध मान माया लोभ आदि से आक्रांत मनुष्य के मन के द्वारा आत्मा का दर्शन कभी नहीं हो सकता।

तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥ ५६ ॥

उसी तत्त्व को वाणी द्वारा बोलना चाहिए, उसी तत्त्व के विषय में दूसरों से प्रश्न करना चाहिए, उसी तत्त्व की कामना करना चाहिए और उसी तत्त्व में मनुष्य को लवलीन होना चाहिए जिससे यह आत्मा अविद्यामय रूप को छोड़कर विद्यामय रूप को प्राप्त हो जाय।

त्यक्त्वैव बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसङ्कल्पवर्जितम् ॥ ५७ ॥

बहिरात्मा को छोड़कर अंतरात्मा में व्यवस्थित मनुष्य संपूर्ण संकल्प से वर्जित परमात्मा का चिंतन करे।

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् ॥ ५८ ॥

उस परमात्मा में भावना करते रहने से वह मैं हूं, इस प्रकार जिसने संस्कार प्राप्त किया है और फिर उसका अभ्यास करने से जिसका यह संस्कार और भी दृढ़ हो गया है ऐसा मनुष्य अपने आत्मा (चैतन्य स्वरूप) में निश्चलता को प्राप्त हो सकता है।

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परोभवति तादृशः।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥ ५९ ॥

यह आत्मा अपने से भिन्न अरहंत सिद्ध रूप शुद्धात्मा की उपासना करके

(४०) समाधि० -५३ (४१) समाधि०-२७ (४२) समाधि०-२८ (४३) समाधि०-९७

स्वयं भी वैसा ही शुद्धात्मा बन जाता है। जैसे दीपक से भिन्न अस्तित्व रखने वाली बत्ती दीपक की उपासना करके स्वयं भी वैसा ही दीपक बन जाती है।

उपास्यात्मानमेवात्मा, जायते परमोऽथवा।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः ॥ ६० ॥

अथवा यह आत्मा अपने चैतन्य स्वरूप का ही चिदानन्दमय रूप से आराधना करके परमात्मा बन जाता है। जैसे वृक्ष (बांस आदि) स्वयं ही अपने आप को मथकर (घर्षणकर) आग बन जाता है।

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचां गोचरं पदम्।
स्वतएव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार वाणी के अगोचर (अनिर्वचनीय) जो नित्य पद है उसीका मनुष्य अभ्यास करे। ऐसा होने पर उस पद को वह स्वतः ही प्राप्त हो जायगा जहां से लौट कर कभी वापिस नहीं आ सकता।

नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च।
गुरूरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥ ६२ ॥

आत्मा ही अपने आपके जन्म (संसार भ्रमण) का और वही उसके निर्वाण की प्राप्ति का भी कारण है। इसलिए आत्मा ही आत्मा का गुरु है। वस्तुतः दूसरा कोई भी उसका गुरु नहीं है।

यदन्तर्जल्प—संपृक्तमुत्प्रेक्षा—जालमात्मनः।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे, शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥ ६३ ॥

जो अंतर जल्प (अन्तरंग का वचन व्यापार) से मिला हुआ आत्मा का कल्पना (संकल्प विकल्प) जाल है वही दुख का मूल है। उस कल्पना जाल के नाश होने पर ही आत्मा के उत्कृष्ट इष्ट पद की प्राप्ति हो सकती है।

---

(६०) समाधि०—९८ (६१) समाधि०—९९ (६२) समाधि०—७५ (६३) समाधि०—८५

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञान—परायणः ।
परात्मज्ञान-सम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत् ॥ ६४ ॥

हिंसादिक पांच पापों में अनुरक्त हुआ मनुष्य अहिंसादि व्रतों का ग्रहण कर अव्रतावस्था में होने वाले विकल्पों का नाश करे और अहिंसादि व्रतों को धारण करने वाला साधक व्रतावस्था में होने वाले विकल्पों को नष्ट करे। ऐसा साधक अरहंत-अवस्था में केवलज्ञानी होकर स्वयं ही परमात्मा बन जाता है ।

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः ॥ ६५ ॥

मनुष्य की जाति तो देहाश्रित है और देह ही तो आत्मा का संसार है, यही सारे दुखों का कारण है । अतः जिनके मन में ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र आदि जातियों का आग्रह है वे कभी संसार से मुक्त नही हो सकते ।

जातिलिङ्गविकल्पेन येषां च समयाग्रहः ।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥ ६६ ॥

जाति और लिंग (वेष) के विकल्प से जिन्हें समयाग्रह—अपने सिद्धान्तो का आग्रह—होता है वे भी कभी आत्मा के परम पद को प्राप्त नहीं हो सकते ।

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्ते सुखं जडः ।
त्यक्त्वारोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ६७ ॥

जड (बहिरात्मा) शरीर और इंद्रियों की क्रियाओं को अपने आत्मा की ही क्रियाएँ मानता है और इनके कारण व्यर्थ ही दुखी होता रहता है । किन्तु विद्वान (अंतरात्मा) इनको क्रियाओं को आत्मा से भिन्न मानता है और मिथ्या आरोपों से मुक्त होकर परम पद को प्राप्त होता है ।

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥ ६८ ॥

(६४) समाधि०–८६ (६५) समाधि०–८८ (६६) समाधि०–८९ (६७) समाधि०–१०४
(६८) समाधि० ७४

इस शरीर में आत्म—भावना करना अर्थात् शरीर को ही आत्मा मानना देहान्तर को जाने का बीज है अर्थात् पुनर्जन्म का कारण है। किन्तु आत्मा में ही आत्मत्व की भावना करना—आत्मा को ही आत्मा मानना—विदेह निष्पत्ति अर्थात् सिद्धत्व का बीज है, पुनर्जन्म से मुक्त होने का हेतु है।

निर्मलः केवलः सिद्धो विविक्तः प्रभुरक्षयः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥ ६६ ॥

निर्मल, केवल, सिद्ध (परिपूर्ण), विविक्त (पवित्र), प्रभु, अक्षय, परमेष्ठी, परात्मा, परमात्मा, ईश्वर और जिन ये सब परमात्मा के नाम हैं।

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित्।
नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः ॥ ७० ॥

मूढ अर्थात् बहिरात्मा द्वेष एवं राग के अधीन होकर बाह्य वस्तुओं के छोड़ने और ग्रहण करने में लगा रहता है; किन्तु आत्मा को जानने वाला ज्ञानी मनुष्य आत्मा में ही त्याग और ग्रहण की प्रवृत्ति करता है अर्थात् क्रोधादि अभ्यंतर विकारों का त्याग करता है और क्षमा आदि अभ्यंतर सद्-वृत्तियों का ग्रहण करता है। किन्तु निष्ठितात्मा (परमात्मा) का बाहर और भीतर कहीं भी त्याग और आदान नहीं होता।

* प्राप्ति का मार्ग *

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ॥ ७१ ॥

भीतर में आत्मा को और बाहर में शरीरादिकों को देखकर उन दोनों के अभ्यासात्मक भेद विज्ञान से यह मनुष्य अच्युत बन जाता है अर्थात् उस रूप को प्राप्त हो जाता है जहां से कभी पतन नहीं होता—जहां से कभी लौट कर नहीं आता।

---

(६६) समाधि०–६ (७०) समाधि०–४७ (७१) समाधि०–७९

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः ।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः ॥ ७२ ॥

जिसके चित्त में अचल धैर्य है—आत्म-स्वरूप की निश्चल धारणा है उसको निश्चित रूप से मुक्ति की प्राप्ति होती है; किन्तु जिसके मन में निश्चल धैर्य नहीं है—आत्म-स्वरूप की स्थिर धारणा नहीं है उसे मुक्ति की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

स्वबुद्धया यावद् गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम् ।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥ ७३ ॥

जब तक देह, वाणी और मन को यह आत्मा ग्रहण करता रहता है तब तक ही संसार है और इनके भेद का अभ्यास हो जाने पर तो आत्मा का निर्वाण हो जाता है। अर्थात् जब तक इस जीव की मन, वाणी और शरीर में आत्म-बुद्धि बनी रहती है तब तक ही यह संसार भ्रमण करता है किन्तु जब यह इनको आत्मा से भिन्न अनुभव करने लगता है तब यह संसार-बंधन से छूट कर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात् ।
नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥ ७४ ॥

दूसरों से (गुरु आदि से) आत्मतत्त्व को सुनता हुआ और स्वयं उसके विषय में बोलता हुआ (अर्थात् आत्मा की चर्चा करता हुआ) भी जबतक शरीर से आत्मा को भिन्न न भावे—अभ्यास न करे तबतक मुक्ति नहीं मिल सकती।

युञ्जीत मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत् ।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम् ॥ ७५ ॥

अन्तरात्मा का कर्तव्य है कि वह आत्मा को मानस ज्ञान के साथ तन्मय करे तथा वचन एवं शरीर के सब कार्यों को छोड़ कर आत्मोपलब्धि के लिए तत्पर

(७२) समाधि०–७१ (७३) समाधि०–६२ (७४) समाधि०–८१ (७५) समाधि०–४८

हो जाए। यदि किसी कारण वचन और काय की क्रिया करनी भी पड़े तो अनासक्त होकर करे।

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः।

तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात् ॥ ७६ ॥

जब मोह से तपस्वी–अन्तरात्मा–के मन में राग अथवा द्वेष की उत्पत्ति हो जाए तो उसे शुद्ध आत्म–स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए। इससे तत्काल ही राग द्वेष शान्त हो जाते हैं। इन्हें शांत करने का सर्वोत्कृष्ट उपाय यही है।
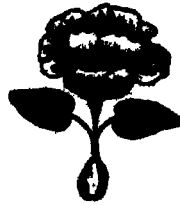
दूसरा अध्याय

धर्म :—

[आत्मा के निरूपण करने के बाद अब यहां धर्म का निरूपण अवसर प्राप्त है। आत्मा के सभी पुरुषार्थों का धर्म से सीधा संबंध है। धर्म के बिना मनुष्य न अभ्युदय (लौकिक उन्नति) प्राप्त कर सकता है और न निःश्रेयस (मोक्ष)। इसलिए उसका यथार्थ स्वरूप समझना आत्मा के लिए अनिवार्य है। धर्म एक त्रिकाला—बाधित सत्य है अतः उसे क्रिया कांडों में कभी भी नहीं उलझाना चाहिए; किन्तु उसके वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकरण मे धर्म के वास्तविक स्वरूप का उल्लेख करने वाले पद्यों का संग्रह है।]

स धर्मो विनिपातेभ्यो यस्मात्संधारयेन्नरम्।
धत्ते चाभ्युदयस्थाने निरपायसुखोदये॥ १॥

धर्म शब्द का अर्थ है धारण करने वाला अर्थात् रक्षा करने वाला। धर्म मनुष्य को विनिपातों (पतन) से बचाता है और अविनश्वर सुख के उदय वाले अभ्युदय स्थान मे रखता है इसलिए वह धर्म कहलाता है।

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः॥ २॥

धर्म के ईश्वर—तीर्थंकर सम्यक् श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को ही धर्म कहते हैं। क्योंकि यही आत्मा के उद्धार के हेतु हैं। और इन के उल्टे अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्या—ज्ञान और मिथ्या—चारित्र संसार के कारण होते हैं।

यद्यत्स्वस्यानिष्टं तत्तद्वाक्चित्तकर्म्मभिः कार्यम्।
स्वप्नेऽपि नो परेषामिति धर्मस्याग्रिमं लिङ्गम्॥ ३॥

जो जो कार्य स्वयं अपने लिए अनिष्ट है वह वह वाणी, मन और क्रिया से स्वप्न में भी दूसरों के लिए नहीं करना चाहिए। धर्म का प्रधान लक्षण यही है।

(१) महापुराण २–३७ (२) रत्नकरण्ड०–३ (३) ज्ञानार्णव २–२१

धर्मः प्राणिदया सत्यं क्षान्तिः शौचं वितृष्णता ।
ज्ञानवैराग्यसम्पत्तिः अधर्मस्तद्विपर्ययः ॥ ४ ॥

प्राणियों की दया, सत्य, क्षमा, अलोभ, तृष्णा का अभाव तथा ज्ञान-वैराग्य रूप संपदा धर्म कहलाता है और अधर्म इन सब से बिलकुल उलटा है ।

धर्मस्य तस्य लिङ्गानि दमः क्षान्तिरहिंस्रता ।
तपो दानं च शीलं च योगो वैराग्यमेव च ॥ ५ ॥

उस धर्म के चिह्न मन को वश में करना, क्षमा, दया, इच्छाओं का निरोध, शील, योग और वैराग्य है ।

अहिंसा सत्यवादित्यमचौर्यं त्यक्तकामता ।
निष्परिग्रहता चेति प्रोक्तो धर्मः सनातनः ॥ ६ ॥

अहिंसा, सत्यवादिता, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और निष्परिग्रहता सनातन धर्म कहा गया है । यही त्रिकालाबाधित धर्म का स्वरूप है ।

तितिक्षा मार्दवं शौचमार्जवं सत्यसंयमौ ।
ब्रह्मचर्यतपस्त्यागाकिञ्चन्य धर्म उच्यते ॥ ७ ॥

क्षमा (क्रोध का परिहार एवं सहनशीलता), मार्दव (अहंकार-अभिमान की निवृत्ति), आर्जव (माया का विनाश), शौच (पवित्रता अर्थात् लोभ का परित्याग) सत्य (असत्य का त्याग), संयम (मन और इंद्रियों को वश में करना एवं हिंसादि पाचों पापों से विरक्त होना), ब्रह्मचर्य (पर में रमण नहीं करना), तप (इच्छाओं का निरोध करना) त्याग (पर पदार्थों से संपर्क छोडना तथा आहार औषध, ज्ञान और अभय का दान देना), आकिञ्चन्य (अभ्यंतर विकार—काम क्रोधादि और धन धान्य आदि सभी बाह्य परिग्रह का छोडना, ये सब धर्म कहलाते हैं ।

---

(४) महापु० १०-१५ (५) महापु० ५-२२ (६) महापु० ५-०३ (७) ज्ञाना० २-१०

दशविधधर्मानुष्ठायिनः सदा रागद्वेषमोहनाम् ।

दृढरूढधनानामपि भवत्युपशमोऽल्पकालेन ॥ ८ ॥

जो दश प्रकार के धर्म का सदा पालन करते हैं उनके चिरकाल से संचित दुर्भेद्य राग, द्वेष और मोह का थोड़े ही समय में उपशम हो जाता है।

दयामूलो भवेद्धर्मो दया प्राण्यनुकम्पनम् ।

दयायाः परिरक्षार्थं गुणाः शेषाः प्रकीर्त्तिताः ॥ ९ ॥

धर्म का मूल दया है और दया का अर्थ प्राणियों पर अनुकंपा (दूसरो को दुखी देखकर कंपित होना) करना है। बाकी के सब गुण दया की रक्षा के लिए ही हैं।

विश्वसन्ति रिपवोपि दयालोर्वित्रसन्ति सुहृदोप्यदयाच्च ।

प्राणसंशयपदं हि विहाय स्वार्थमीप्सति ननु स्तनपोपि ॥१०॥

दयालु का दुशमन भी विश्वास करते हैं और दयाहीन से मित्र भी भय खाते हैं। निश्चय से स्तनों को पीने वाला अर्थात् बच्चा भी प्राणों के संशय स्थान को छोड़ कर अपना स्वार्थ प्राप्त करना चाहता है।

मनो दयानुविद्धं चेन्मुधा क्लिश्नासि सिद्धये ।

मनो दयापविद्धं चेन्मुधा क्लिश्नासि सिद्धये ॥ ११ ॥

यदि मन दया से ओतप्रोत है तो फिर व्यर्थ सिद्धि के लिए क्यों क्लेश करता है और यदि मन दया से रहित है तो क्यों व्यर्थ सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है।

यस्य जीवदया नास्ति तस्य सच्चरितं कुतः ।

न हि भूतद्रुहां कापि क्रिया श्रेयस्करी भवेत् ॥ १२ ॥

---

(८) प्रशम० १७६ (९) महापु० ५-२१ (१०) महापु० ५-१० (११) महापु० ५-९
(१२) अनगार०-४-६

जिसके जीवों की दया नहीं है उसके सच्चरित्र कहां से हो सकता है? जो जीवों से द्रोह करने वाले लोग हैं उनकी कोई भी क्रिया कल्याणकारी नहीं होती।

क्षिप्तोपि केनचिद्दोषो दयार्द्रे न प्ररोहति।
तक्रार्द्रे तृणवत्किंतु गुणग्रामाय कल्पते॥ १३॥

दयार्द्र मनुष्य में किसी के द्वारा फेंका गया दोष भी उगता नहीं है—उसमें र उत्पन्न नहीं होता-ठीक ऐसे ही, जैसे छाछ से आर्द्र स्थान में तृण नहीं उगता; किन्तु वह दोष भी गुण बनजाता है।

परमाणोः परं स्वल्पं न चान्यन्नभसो महत्।
धर्मादन्यश्च लोकेऽस्मिन् सुहृन्नास्ति शरीरिणाम॥ १४॥

परमाणु से कोई छोटा नहीं है और आकाश से कोई बड़ा नहीं है। इसी प्रकार इस लोक में शरीरधारियों का धर्म से बड़ा अन्य कोई दूसरा मित्र नहीं है।

नाङ्कुरः स्याद्विना बीजाद्विना वृष्टिर्न वारिदात्।
छत्राद्विनापि न च्छाया विना धर्मान्न सम्पदः॥ १५॥

बीज के बिना अंकुर नहीं हो सकता और बादल के बिना वृष्टि नहीं हो सकती तथा छत्र के बिना छाया नहीं हो सकती। इसी प्रकार धर्म के बिना संपदायें नहीं मिल सकतीं।

धर्मो माता पिता धर्मो धर्मस्त्राताभिवर्धकः।
धर्ता भवभृतां धर्मो निर्मले निश्चले पदे॥ १६॥

धर्म ही माता, धर्म ही पिता तथा धर्म ही रक्षक और अभिवर्द्धक (समृद्धि बढाने वाला है) एवं धर्म ही निर्मल एवं निश्चल पद में प्राणधारियों को स्थापित करने वाला है।

---

(१३) अनगार० ४-११ (१४) पद्मपु० ४-३६ (१५) महापु० ५-१८ महापु० (१६) ७६-४१७

धर्मोगुरुश्च मित्रं च धर्मः स्वामी च बान्धवः ।
अनाथ–वत्सलः सोऽयं संत्राता कारणं विना ॥ १७ ॥

धर्म सबका गुरु है, मित्र है, स्वामी है एवं बांधव है और वही अनाथों का वत्सल तथा बिना ही कारण के सब की रक्षा करने वाला है।

पापाद् दुःखं धर्मात्सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धमिदम् ।
तस्माद्विहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्म्मम् ॥ १८ ।

पाप से दुख और धर्म मे सुख होता है—यह बात सर्व–जन–सुप्रसिद्ध है; इसलिए सुखार्थी आत्मा सदा पाप को छोड़ कर धर्म का आचरण करे।

गन्तुकामो यथा पङ्गुर्मूको वक्तुं समुद्यतः ।
अन्धो दर्शनकामश्च तथा धर्माद्दृते सुखम् ॥ १९ ॥

धर्म के बिना सुख की कल्पना करना ऐसा ही है जैसे बिना पैर का मनुष्य चलने की, गूंगा बोलने की और अंधा देखने की इच्छा करता है।

वृष्टिर्विना कुतो मेघैः क्व सस्यं बीजवर्जितम् ।
जीवानां च विना धर्मात् सुखमुत्पद्यते कुतः ॥ २० ॥

बादलों के बिना वर्षा और बीज के बिना अनाज जैसे नहीं हो सकता वैसे ही धर्म के बिना जीवों को सुख कैसे प्राप्त हो सकता है?

धर्मः कामदुघा धेनुधर्मश्चिन्तामणिर्महान् ।
धर्मः कल्पतरुः स्थेयान् धर्मो हि निधिरक्षयः ॥ २१ ॥

धर्म इच्छित फल को देने वाली गाय है। धर्म महान चिंतामणि नामक रत्न है। धर्म स्थिर रहने वाला कल्पवृक्ष है और धर्म ही अक्षय निधि है।

संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिन्तामणेरिव ।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते ॥ २२ ॥

---

(१७) ज्ञाना० २–११ (१८) आत्मानु०–८ (१९) पद्मपु० ४–३८ (२०) पद्मपु० ४–३७
(२१) महापु० २–३४ (२२) महापु० २–२२

कल्पवृक्ष से उस वस्तु की प्राप्ति होती है जिसकी कल्पना की जाती है और चिंतामणि नामक रत्न से वह पदार्थ मिलता है जिसका मन में केवल विचार मात्र किया जाता है; किन्तु धर्म से असंकल्प्य (जिसके लिए कल्पना नहीं की जा सकती) और असंचिन्त्य (जो चिंतना में नहीं आसकता) फल प्राप्त हो सकता है।

धर्मार्थी सर्वकामार्थी धर्मार्थी धन–सौख्यवान् ।
धर्मो हि मूलं सर्वासां धनर्द्धि–सुख–संपदाम् ॥ २३ ॥

जो धर्मार्थी है उसकी सब इच्छाएं पूरी होती हैं। वही धन और सुखवाला होता है। सभी धन, ऋद्धि और सुख संपदाओं का निश्चित रूप से धर्म ही मूल कारण है।

धर्मादिष्टार्थसम्पत्तिस्ततः काम—सुखोदयः ।
स च संप्रीतये पुंसां धर्मात्सैषा परम्परा ॥ २४ ॥

धर्म से इष्टार्थ की प्राप्ति होती है। इष्ट पदार्थों की प्राप्ति से सांसारिक सुखों का उदय होता है और वह मनुष्य के प्रीति अर्थात् संतोष का कारण है। यह परम्परा धर्म से चलती है।

धर्मध्वंसे सतां ध्वंसस्तस्माद्धर्म–द्रुहोऽधमान् ।
निवारयन्ति ये सन्तो रक्षितं तैः सतां जगत् ॥ २५ ॥

धर्म के नाश होजाने पर सज्जनों का भी नाश हो जाता है इसलिए जो सज्जन धर्म–द्रोही नीच लोगों को उनके नीच कृत्यों से हटाते हैं उन्हीं से जगत की रक्षा होती है।

धर्मादवाप्त–विभवो धर्मं प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु ।
बीजादवाप्तधान्यः कृषीवलस्तस्य बीजमिव ॥ २६ ॥

संसार का कोई भी वैभव (सुविधा) धर्म से ही प्राप्त होती है इसलिए धर्म की रक्षा करते हुए ही संसार की सुविधाओं का अनुभव करिए। ठीक वैसे ही जैसे

(२३) महापु० २–२३ (२४) महापु० ५–१५ (२५) महापु० ७६-४१८ (२६) आत्मानु० २१

बीज से ही धान्य प्राप्त करने वाला किसान बीज की रक्षा करता हुआ धान्य का उपभोग करता है।

न धर्म-सदृशः कश्चित्सर्वाभ्युदय-साधकः।
आनन्द-कुज-कन्दश्च हितः पूज्यः शिवप्रदः॥ २७॥

धर्म के समान कोई भी पदार्थ प्राणियों के संपूर्ण अभ्युदय (कल्याण) का साधक नहीं है; और यही आनन्द रूप वृक्ष का मूल, सबका हितकारी, पूजनीय एवं मोक्ष का देने वाला है।

कृत्वा धर्म-विघातं विषय-सुखान्यनुभवन्ति ये मोहात्।
आच्छिद्य तरुं मूलात्फलानि गृह्णन्ति ते पापाः॥ २८॥

जो लोग मोह से धर्म का विघात कर विषय-सुखों का अनुभव करते हैं वे पापी लोग वृक्ष को मूल से उखाड़ कर फलों को ग्रहण करना चाहते हैं।

धर्मादर्थश्च कामश्च स्वर्गश्चेत्यविगानतः।
धर्मः कामार्थयोः सूतिरित्यायुष्मन्विनिश्चिनु॥ २९॥

हे आयुष्मन्! तुम यह निश्चय करो कि धर्म से धन, काम (संसार की सुविधाएं) और स्वर्ग निर्दोष रूप से प्राप्त हो सकते हैं। काम और अर्थ का उत्पत्ति कारण धर्म ही है।

मिथ्यात्वदूषितधियामरुच्यं धर्म-भेषजम्।
सदप्यसदिवाभाति तेषां पित्तजुषामिव॥ ३०॥

जिनकी बुद्धि मिथ्यात्व से दूषित है उनके लिए धर्म रूपी दवा रुचिकर नहीं होती। पित्तवाले लोगों की तरह उन्हें सत् भी असत् की तरह मालूम होता है।

अस्मिन्स्त्रिभुवने कृत्स्ने जीवानां हितमिच्छताम्।
शरणं परमं धर्मस्तस्माच्च परमं सुखम्॥ ३१॥

---

(२७) ज्ञाना० २-१६ (२८) आत्मानु० २४ (२९) महापु० २-३२ (३०) महापु० १-८७
(३१) पद्मपु० ४-३५

इस संपूर्ण तीन भुवन में हित की इच्छा करने वाले जीवों का धर्म ही परम शरण है इसलिए वही परम सुख है।

पश्य धर्मस्य माहात्म्यं योऽपायात्परिरक्षति।
यत्र स्थितं नरं दूरान्नातिक्रामन्ति देवता: ॥ ३२ ॥

धर्म का माहात्म्य देखो, जो विनाश से सबकी रक्षा करता है और जहां ठहरे हुए मनुष्य पर देवता भी आक्रमण नहीं कर सकते और दूर ही रहते हैं।

सुखार्थं चेष्टितं सर्वं तच्च धर्म–निमित्तकम्।
एवं ज्ञात्वा जना यत्नात् कुरुध्वं धर्म–संग्रहम् ॥ ३३ ॥

सब चेष्टा सुख के लिए होती है और उसका कारण धर्म है। ऐसा जान कर हे मनुष्य ! सदा धर्म का संग्रह करो।

धर्मात् सुखमधर्माच्च दुखमित्यविगानत:।
धर्मैकपरतां धत्ते बुधोऽनर्थ—जिहासया ॥ ३४ ॥

धर्म से सुख होता है और अधर्म से दुख–यह बात निर्दोष है। विद्वान् मनुष्य अनर्थ छोड़ने की इच्छा से प्रधान रूप से धम में तत्पर हो जाता है।

पश्य धर्म–तरोरर्थ: फलं कामस्तु तद्रस:।
सत्रिवर्गत्रयस्यास्य मूलं पुण्यकथाश्रुति: ॥ ३५ ॥

देखो धर्म रूपी वृक्ष का धन फल है और काम उसका रस है। धर्म अर्थ, और काम इस प्रकार त्रिवर्ग रूपी वृक्ष का मूल धर्म कथा का श्रवण है।

नाधर्मात्सुखसंप्राप्तिर्न विषादस्ति जीवितम्।
नोषरात्सस्य–निष्पत्तिर्नाग्नेराह्लादनं भवेत् ॥ ३६ ॥

अधर्म से कभी सुख नहीं हो सकता। जहर से कभी जीवन की प्राप्ति नहीं

(३२) महापु० २–३५ (३३) पद्मपु० ४–३६ (३४) महापु० १०–१४ (३५) महापु० २–३१
(३६) महापु० ५–१६

हो सकती। बंजर जमीन से कभी अनाज की उत्पत्ति नहीं हो सकती और घाम से पीड़ित मनुष्य को अग्नि कभी आह्लादकारी नहीं हो सकती।

संतप्तस्तत्प्रतीकारम् ईप्सन् पापेऽनुरज्यते।
द्वेष्टि पापरतो धर्मम् अधर्माच्च पतत्यधः॥ ३७॥

संतप्त प्राणी अपने संताप के प्रतिकार की इच्छा करता हुआ पाप में अनुरक्त हो जाता है और पाप-रत होकर धर्म से द्वेष करता है और तब अधर्म के कारण नीचे गिरता है।

यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्॥ ३८॥

यदि पाप का निरोध हो जाता है तो अन्य संपदा से क्या प्रयोजन है? यही सबसे बड़ी संपत्ति है; और यदि पाप का निरोध नहीं होता है तो अन्य संपदा के पा लेने से भी क्या लाभ है?

धर्मो वसेन्मनसि यावदलं स तावत्।
हन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेऽथ तस्मिन्॥
दृष्टा परस्परहतिर्जनकात्मजानां।
रक्षा ततोऽस्य जगतः खलु धर्म एव॥ ३९॥

जब तक मन में धर्म रहता है तब तक कोई मारने वाले को भी नहीं मारता। किन्तु देखो तो, उस धर्म के चले जाने पर पुत्र पिता को मारने लगता है और पिता पुत्र को; इसलिए यह निश्चय है कि इस जगत की रक्षा का साधन धर्म ही है।

---

(३७) महापु० १०-१७ (३८) रत्न० २७ (३९) आत्मानु० २६

कषाय विजय :— तीसरा अध्याय

[क्रोधादि कषायें आत्मा का विकार हैं और विकार ही अधर्म है, अतः धर्म की प्राप्ति के लिए इन कषायों पर विजय पाना अनिवार्य है। धर्म की जिज्ञासा के साथ २ कषायों से होने वाले आत्मा के अहित का ज्ञान भी बहुत आवश्यक है; अतः धर्म के निरूपण के अनंतर कषाय-विजय के पद्यों का संकलन इस अध्याय में किया गया है।]

कषाय विजय

शमाम्बुभिः क्रोधशिखी निवार्यताम्,
नियम्यतां मानमुदारमार्दवैः।
इयं च मायाऽऽर्जवतः प्रतिक्षणं,
निरीहतां चाश्रय लोभशान्तये ॥ १ ॥

क्षमा रूपी जल से क्रोध रूपी आग को बुझाओ, उदार मार्दव भावों से अभिमान का मर्दन करो और आर्जव (कुटिलता का अभाव) भावों से माया का तथा लोभ की शांति के लिए निर्लोभता का आश्रय करो।

येन येन निवार्यन्ते क्रोधाद्याः परिपन्थिनः।
स्वीकार्यमप्रमत्तेन तत्तत्कर्म मनीषिणा ॥ २ ॥

जिस जिस कार्य से आत्मा के दुश्मन क्रोधादिकों का निवारण होता है वही कार्य मनीषी (विद्वान्) को प्रमाद रहित होकर करना चाहिए।

(क्रोध प्रत्याख्यान)

तपः श्रुतयमाधारं वृत्तविज्ञानवर्द्धितम्।
भस्मीभवति रोषेण पुंसां धर्मात्मकं वपुः ॥ ३ ॥

तप, शास्त्र और संयम जिसका आधार है, चारित्र और ज्ञान के द्वारा जिसकी वृद्धि हुई है ऐसा धर्म रूप शरीर क्रोध से भस्म हो जाता है।

(१) ज्ञाना० १६-७२ (२) ज्ञाना० १६-७४ (३) ज्ञाना० १६-४

पूर्वमात्मानमेवासौ क्रोधान्धो दहति ध्रुवम् ।
पश्चादन्यन्न वा लोको विवेकविकलाशयः ॥ ४ ॥

यह निश्चित है कि क्रोध से अंधा हुआ मनुष्य पहले आपको ही जलाता है क्योंकि उसका मन विवेक से विकल हो जाता है। इसके बाद वह किसी अन्य को जलाये या न जलाये।

लोकद्वयविनाशाय पापाय नरकाय च ।
स्वपरस्यापकाराय क्रोधः शत्रुः शरीरिणाम् ॥ ५ ॥

क्रोध शरीर धारियों का शत्रु है; क्योंकि वह दोनों लोकों का विनाश करता है, पाप को पैदा करता है, नरक का कारण है और स्वपर का अपकारक है।

प्राक्कृताय न रुष्यन्ति कर्मणे निर्विवेकिनः ।
तस्मिन्नपि च क्रुध्यन्ति यस्तदेव चिकित्सति ॥ ६ ॥

विवेकहीन मनुष्य पूर्वोपार्जित कर्म पर क्रोध नहीं करते; किन्तु जो क्रोध का निमित्त मिला कर उन पाप कर्मों को निर्जरा का कारण बनता है वैद्य के समान उस मनुष्य पर क्रोध करते हैं।

परपरितोषनिमित्तं त्यजन्ति केचिद्धनं शरीरंच ।
दुर्वचनबन्धनाद्यैर्वयं रुषन्तो न लज्जामः ॥ ७ ॥

कुछ लोग दूसरे को संतुष्ट करने के लिए धन अथवा शरीर का भी परित्याग कर देते हैं, तब क्या हमारे लिए यह लज्जा की बात नहीं है कि हम केवल दुर्वचन और बंधनादिकों से ही क्रोधित हो रहे हैं ?

अपारयन्बोधयितुं पृथग्जनानसत्प्रवृत्तेष्वपि नाऽसदाचरेत् ।
अशक्नुवन्पीतविषं चिकित्सितुं पिबेद्विषं कः स्वयमप्यबालिशः ॥८॥

(४) ज्ञाना० १९-६ (५) ज्ञाना० १९-९ (६) ज्ञाना० १९-४१ (७) ज्ञाना० १९-१२
(८) ज्ञाना० १९-३०

सामान्य लोगों को अच्छे कार्यों में प्रवृत्त करने के लिए समझाता हुआ भी मनुष्य यदि असफल हो जाए तो वह स्वयं असदाचरण नहीं करेगा, क्रोधित नहीं होगा। ऐसा कौन समझदार आदमी है जो जहर पीने वाले की चिकित्सा करने में असमर्थ होता हुआ स्वयं ही विष पी ले।

क्रोधवह्नेः क्षमैकेयं प्रशान्तौ जलवाहिनी।
उद्दामसंयमारामवृत्तिर्वाऽत्यन्तनिर्भरा ॥ ६ ॥

क्रोध रूपी आग के शान्त करने में यह एक क्षमा रूप नदी ही समर्थ है जो उत्कट संयम रूपी बगीचे को पोषण देती है और जो अत्यंत निर्भर है।

हन्तुर्हानिर्ममात्मार्थसिद्धिः स्यान्नात्र संशयः।
हतो यदि न रुष्यामि रोषश्चेद्व्यत्ययस्तदा ॥ १० ॥

यदि मैं मारने पर भी क्रोधित न हूँ तो मारने वाले की हानि है और मेरा फायदा है किन्तु यदि मैं क्रोध करूं तो मेरा नुकसान है और उसका लाभ है।

यदि प्रशममर्यादां भित्वा रूष्यामि शत्रवे।
उपयोगः कदाऽस्य स्यात्तदा मे ज्ञानचक्षुषः ॥ ११ ॥

यदि प्रशम (क्षमा) की मर्यादा का भेदन कर मैं शत्रु पर क्रोध करूं तो इस मेरी ज्ञान चक्षु का कब और क्या उपयोग होगा ?

यः शमः प्राक्समभ्यस्तो विवेकज्ञानपूर्वकः।
तस्यैतेऽद्य परोक्षार्थं प्रत्यनीकाः समुत्थिताः ॥ १२ ॥

विवेक ज्ञान पूर्वक जिस शम का मैंने पहले अभ्यास किया है उसी की परीक्षा के लिए ये विरोधी उपस्थित हुए हैं। (अतः परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए मुझे सावधान रहना चाहिए।)

(६) ज्ञाना० १६-१२ (१०) ज्ञाना० १६-३२ (११) ज्ञाना० १६-२८ (१२) ज्ञाना० १६-२७

अयत्नेनापि सैवेयं संजाता कर्मनिर्जरा।
चित्रोपायैर्ममानेन यत्कृता भर्त्स्यंयातना ॥ १३ ॥

बिना ही यत्न के यह मेरे कर्मों की निर्जरा होगई जो इसने नाना प्रकार के उपायों मे मुझे निंदनीय पीडा पहुंचाई।

मदीयमपि चेच्चेतः क्रोधाद्यैर्विप्रलुप्यते।
अज्ञातज्ञाततत्त्वानां को विशेषस्तदा भवेत् ॥ १४ ॥

यदि क्रोधादिकों के द्वारा मेरा भी चित्त विप्रलुप्त होता है तो जिन्होंने तत्त्व को जाना है ऐसे लोगों में और जिन्होंने तत्त्व को नहीं जाना है ऐसे लोगो मे क्या भेद रह जाता है ?

अप्यसह्ये समुत्पन्ने महाक्लेशसमुत्करे।
तुष्यत्यपि च विज्ञानी प्राक्कर्मविलयोद्यतः ॥ १५ ॥

पहले किये हुए अपने कार्यों के नाश करने में उद्यत भेदविज्ञानी आत्मा असह्य भी महाक्लेश के समूह के उपस्थित होने पर संतुष्ट ही होता है।

अपकुर्वति कोपश्चेत्, किन्न कोपाय कुप्यसि।
त्रिवर्गस्यापवर्गस्य, जीवितस्य च नाशिने ॥ १६ ॥

यदि अपकार करने वाले पर क्रोध करते हो तो फिर धर्म अर्थ काम और मोक्ष तथा जीवन के नाश करने वाले क्रोध पर ही क्रोध क्यों नहीं करते।

दहेत्स्वमेव रोषाग्नि–र्नापरं विषयं ततः।
क्रुध्यन्निक्षिपति स्वाङ्गे, वह्निमन्यदिधिक्षया ॥ १७ ॥

क्रोध की आग खुद अपने को ही जलाती है, दूसरे को नहीं। क्रोध करने वाला आदमी दूसरे को जलाने की इच्छा से मानो अपने ही शरीर में आग फेंक लेता है।

(१३) ज्ञाना० १९–२१ (१४) ज्ञाना० १९–२० (१५) ज्ञाना० १९–२४ (१६) अत्र० ४२
(१७) अत्र० ४३

दृग्बोधादिगुणानर्घ्यरत्नप्रचयसंचितम् ।

भाण्डागारं दहत्येव क्रोधवह्निः समुत्थितः ॥ १८ ॥

प्रज्वलित क्रोध रूपी आग उस भाण्डागार को जला देती है जिसमें दर्शन, ज्ञान आदि गुण रूपी अमूल्य रत्नों का ढेर भरा पड़ा है ।

क्रोधान्मित्रं भवेच्छत्रुः क्रोधाद्धर्मो विनश्यति ।

क्रोधाद्राज्यपरिभ्रंशः क्रोधान्मोमुच्यतेऽसुभिः ॥ १९ ॥

क्रोध से मित्र भी शत्रु हो जाता है । क्रोध से धर्म का नाश हो जाता है । क्रोध से राज्य खत्म हो जाता है । क्रोध के अधीन होकर मनुष्य अपने प्राणों को गंवा देता है ।

क्रोधान्धतमसे मग्नं यो नात्मानं समुद्धरेत् ।

स कृत्यसंशयद्वैधान्नोत्तरीमुमलन्तराम् ॥ २० ॥

जो क्रोध रूपी गहनांधकार में मग्न आत्मा का उद्धार नहीं करता वह कर्तव्य में होने वाले संशय की दुविधा से कभी पार नहीं उतर सकता ।

यद्यद्य कुरुते कोऽपि मां स्वस्थं कर्मपीडितम् ।

चिकित्सित्वा स्फुटं दोषं स एवाकृत्रिमः सुहृत् ॥ २१ ॥

मैं कर्मो से पीडित हूं, जो कोई मुझे अपना दोष दिखला कर उसकी चिकित्सा कर देता है वही मेरा अकृत्रिम दोस्त है ।

हत्वा स्वपुण्यसन्तानं मद्दोषं यो निकृन्तति ।

तस्मै यदिह रुष्यामि मदन्यः कोऽधमस्तदा ॥ २२ ॥

जो अपनी पुण्य परंपरा को नष्ट कर मेरे दोष को काटता है यदि उसके लिए भी मैं क्रोध करूं तो मेरे जैसा नीच दूसरा कौन है ?

(१८) ज्ञाना० १९-२ (१९) महापु० ७५-१२५ (२०) महापु० ३४-७४ (२१) ज्ञाना० १९-१४
(२२) ज्ञाना० १९-२५

आक्रुष्टोहं हतो नैव हतो वा न द्विधाकृतः ।
मारितो न हतो धर्मो मदीयोऽनेन बन्धुना ॥ २३ ॥

क्रोध पर विजय पाने के लिए इस प्रकार विचार करना चाहिए कि इसने मुझे गाली ही तो दी है मारा तो नहीं, अगर मारने भी लगे तो मुझे मारा ही तो है दो टुकडे तो नहीं किये। और अगर जान से भी मारने लगे तो सोचे कि कुछ भी हो इस बंधुने मेरा धर्म तो नष्ट नहीं किया।

प्राङ्मया यत्कृतं कर्म तन्मयैवोपभुज्यते ।
मन्ये निमित्तमात्रोऽन्यः सुखदुःखोद्यतो जनः ॥ २४ ॥

जो पहले मैने कर्म किया है उसीका फल मैं पा रहा हूं। मुझे सुख या दुख देने मे उद्यत यह मनुष्य तो केवल निमित्त मात्र है।

यदि वाक्कण्टकैर्विद्धो नावलम्बे क्षमामहम् ।
ममाप्याक्रोशकादस्मात्को विशेषस्तदा भवेत् ॥ २५ ॥

यदि वाणी रूपी कांटों से बींधा गया मैं क्षमा का अवलंबन नहीं करूं तो क्रोध करने वाले इसमें और मुझ में क्या भेद है ?

सत्संयममहारामं यमप्रशमजीवितम् ।
देहिनां निर्दहत्येव क्रोधवह्निः समुत्थितः ॥ २६ ॥

यम और प्रशम जिसका जीवन है ऐसे श्रेष्ठ संयम रूपी विशाल बगीचे को क्रोध रूपी आग जला देती है।

इयं निकषभूरद्य सम्पन्ना पुण्ययोगतः ।
शमत्वं किं प्रपन्नोऽस्मि न वेत्यद्य परीक्ष्यते ॥ २७ ॥

आज पुण्य के योग से यह कसौटी हाथ लगी है मुझ मे शमत्वं (क्षमा) है या नही इसका पता आज ही लगेगा ।

---

(२३) ज्ञाना० १६-१६ (२४) ज्ञाना० १६-१६ (२५) ज्ञाना० १६-२५ (२६) ज्ञाना० १६-१
(२७) ज्ञाना० १६-३५

प्रत्यनीके समुत्पन्ने यद्धैर्यं तद्धि शस्यते ।
स्यात्सर्वोऽपि जनः स्वस्थः सत्यशौचक्षमास्पदः ।। २८ ।।

वही धैर्य प्रशंसा करने के योग्य है जो विरोधी वातावरण उपस्थित होने पर भी विकृत नहीं होता । स्वस्थ अवस्था में तो सभी सत्य, शौच और क्षमाधारी बने हुए ही रहते हैं।

चिराभ्यस्तेन किं तेन शमेनास्त्रेण वा फलम् ।
व्यर्थीभवति यत्कार्ये समुत्पन्ने शरीरिणाम् ।। २९ ।।

चिरकाल से अभ्यास किये गये शरीरधारियों के उस शम या शस्त्र से क्या लाभ है जो समय आने पर व्यर्थ हो जाता है ।

विजितेन्द्रियवर्गाणां सुश्रुतश्रुतसम्पदाम् ।
परलोकजिगीषूणां क्षमा साधनमुत्तमम् ।। ३० ।।

जिन्होंने इन्द्रियों के समूह को जीत लिया है, शास्त्र संपत्ति का श्रवण किया है और जो परलोक को जीतना चाहते हैं उनके लिए क्षमा ही उतम साधन है ।

कोपः कोप्यग्निरन्तर्बहिरपि बहुधा निर्दहन् देहभाजः,
कोपः कोप्यन्धकारः सह दृशमुभयीं धीमतामप्युपघ्नन् ।
कोपः कोपि ग्रहोऽस्तत्रपमुपजनयन् जन्मजन्माभ्यपायां-
स्तत्कोपं लोप्तुमाप्तश्रुतिरसलहरी सेव्यतां क्षान्तिदेवी ।।३१।।

क्रोध एक प्रकार की आग है जो मनुष्य को अनेक प्रकार से बाहर और भीतर जलाती है । वह एक प्रकार का अंधेरा है जो बुद्धिमानों के भी भीतरी और बाहरी दोनों नेत्रों को बेकार कर देता है । क्रोध एक प्रकार का ग्रह है जो मानों निर्लज्ज होकर जन्म जन्म में दुखों को देता है । इस क्रोध को शांत करने के लिए क्षमा रूप देवी का सेवन करना चाहिए जो भगवान की वाणी की रस धारा स्वरूप है ।

---

(२८) ज्ञाना० १९–३८ (२९) ज्ञाना० १९–३७ (३०) महापु० ३४-७७ (३१) अनगा०६-४

(अभिमान प्रत्यख्यान)

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः ।

अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ ३२ ॥

जिनका अभिमान नष्ट हो गया है ऐसे महापुरुषों ने ज्ञान, प्रतिष्ठा, कुल, जाति शक्ति, संपदा, तप और शरीर के आश्रय से उत्पन्न होने वाले अभिमान को मद कहा है ।

कुलजातीश्वरत्वादिमदविध्वस्तबुद्धिभिः ।

सद्यः संचीयते कर्म नीचैर्गतिनिबन्धनम् ॥ ३३ ॥

कुल, जाति और ऐश्वर्य आदि से जिन की बुद्धि नष्ट हो गई है ऐसे लोग नीच गति के आस्रव के कारण कर्म को बांधते हैं ।

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः ।

सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥ ३४ ॥

जो अभिमान मे उन्मत्त होकर दूसरे धर्मात्माओं का अपमान करता है वह अपने ही धर्म का अपमान करता है; क्योंकि धर्म के आधार धर्मात्मा लोग ही हैं ।

प्रोत्तुङ्गमानशैलाग्रवर्तिभिर्लुप्तबुद्धिभिः ।

क्रियते मार्गमुल्लङ्घ्य पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥३५ ॥

जो लोग अत्यंत ऊंचे मान रूपी पहाड की चोटी पर चढे हुए हैं और इसीलिए जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है उनके द्वारा कल्याण मार्ग का उल्लंघन कर पूज्य पुरुषों की पूजा का व्यतिक्रम किया जाता है ।

लुप्यते मानतः पुंसां विवेकामललोचनम् ।

प्रच्यवन्ते ततः शीघ्रं शीलशैलाग्रसंक्रमात् ॥ ३६ ॥

अभिमान मे मनुष्यों का विवेक रूपी निर्मल लोचन नष्ट हो जाता है औ इसके बाद वे शील रूपी पहाड के शिखर से शीघ्र ही गिर जाते हैं ।

(३२) रत्न० २५ (३३)ज्ञाना०१९-४८ (३४)रत्न०२६ (३५)ज्ञाना०१९-५० (३६)ज्ञाना०५१

करोत्युद्धतधीर्मानाद्विनयाचारलंघनम् ।
विराध्याराध्यसन्तानं स्वेच्छाचारेण वर्तते ॥ ३७ ॥

उद्दण्ड बुद्धि वाला मनुष्य अभिमान से विनयाचार को उल्लंघन करता है और वह पूजनीय पुरुषों के समूह की विराधना करके स्वेच्छाचार से प्रवृत्ति करता है।

रूपबलश्रुतिमतिशीलविभवपरिवर्जितांस्तथा दृष्ट्वा ।
विपुलकुलोत्पन्नानपि ननु कुलमानः परित्याज्यः ॥ ३८ ॥

जब बड़े कुल में उत्पन्न होने वाले भी रूप, शक्ति, शास्त्रज्ञान, बुद्धि, चरित्र और वैभव रहित देखे जाते हैं तब कुल के अभिमान की क्या कीमत है ?

नित्यपरिशीलनीये त्वग्मांसाच्छादिते कलुषपूर्णे ।
निश्चयविनाशधर्मिणि रूपे मदकारणं किं स्यात् ॥ ३९ ॥

जो हमेशा ही संस्कार की अपेक्षा रखता है, त्वचा और मांस से आच्छादित है, मैल से भरा हुआ है और निश्चित ही जिसका विनाश होने वाला है ऐसे रूप का अभिमान व्यर्थ है।

मानमालम्ब्य मूढ़ात्मा विधत्ते कर्म निन्दितम् ।
कलङ्कयति चाशेषचरणं चन्द्रनिर्मलम् ॥ ४० ॥

मूर्ख मनुष्य मान के आश्रित होकर निंदित कर्म करने लगता है और चंद्रमा के समान संपूर्ण निर्मल आचरण को कलंकित कर देता है।

बलसमुदितोऽपि यस्मान्नरः क्षणेन निर्बलत्वमुपयाति ।
बलहीनोऽपि च बलवान् संस्कारवशात् पुनर्भवति ॥ ४१ ॥

बलवान आदमी भी देखते २ ही क्षण भर मे निर्बल हो जाता है। और जो

(३७) ज्ञाना० १९-५३ (३८) प्रशम० ८३ (३९) प्रशम० ८६ (४०) ज्ञाना० १९-५४
(४१) प्रशम ८७

बलहीन है वह कर्म के वश से बलवान हो जाता है। ऐसी स्थिति में बल के अभिमान का कोई औचित्य नहीं है।

(माया प्रत्याख्यान)

इहाकीर्ति समादत्ते मृतो यात्येव दुर्गतिम् ।
मायाप्रपञ्चदोषेण जनोऽयं जिह्मिताशयः ॥ ४२ ॥

माया से होने वाले प्रपंच के दोष से जिसका मन कुटिल है ऐसा यह मनुष्य महान अपकीर्ति को प्राप्त होता है और मरकर दुर्गति में जाता है।

जन्मभूमिरविद्यानामकीर्तेर्वासमन्दिरम् ।
पापपङ्कमहागर्तो निकृतिः कीर्तिता बुधैः ॥ ४३ ॥

माया को विद्वानों ने अविद्याओं का उत्पत्ति-स्थान, अपकीर्ति का निवास-मंदिर तथा पाप रूपी कीचड का बड़ा भारी गड्ढा बतलाया है।

कूटद्रव्यमिवासारं स्वप्नराज्यमिवाफलम् ।
अनुष्ठानं मनुष्याणां मन्ये मायावलम्बिनाम् ॥ ४४ ॥

जो माया के आश्रित हैं ऐसे मनुष्यों का आचरण कृत्रिम पदार्थ की तरह असार और स्वप्न राज्य की तरह निष्फल है।

छाद्यमानमपि प्रायः कुकर्म स्फुटति स्वयम् ।
अलं मायाप्रपञ्चेन लोकद्वयविरोधिना ॥ ४५ ॥

कुकर्म ढकने पर भी प्रायः अपने आप ही प्रकट हो जाता है; इस कारण दोनों लोकों को बिगाड़ने वाले इस माया प्रपञ्च से दूर रहना चाहिए।

मुक्तेरविप्लुतैश्चोक्ता गतिर्ऋज्वी जिनेश्वरैः ।
तत्र मायाविनां स्थातुं न स्वप्नेऽप्यस्ति योग्यता ॥ ४६ ॥

---

(४२) ज्ञाना० १९-६४ (४३) ज्ञाना० १९-५८ (४४) ज्ञाना० १९-६० (४५) ज्ञाना० १९-६४
(४६) ज्ञाना० १९-६२

वीतराग सर्वज्ञ भगवान् ने मुक्ति मार्ग की गति सर अतः उसमें मायावी जनों के स्थिर रहने की योग्यता स्वप्न में भी नहीं है।

अर्गलेवापवर्गस्य पदवी श्वभ्रवेश्मनः।
शीलशालवने वह्निर्मायेयमवगम्यताम् ॥ ४७ ॥

यह माया मोक्ष को रोकने की आगल और नरक रूपी घर में प्रवेश करने का मार्ग है, तथा शील रूपी शाल वृक्ष के वन को जलाने के लिये अग्नि समान है।

क मायाचरणं हीनं क सन्मार्गपरिग्रहः।
नापवर्गपथि भ्रातः संचरन्तीह वञ्चकाः ॥ ४८ ॥

मायारूपी हीनाचरण तो कहां ? और सन्मा का ग्रहण करना कहां ? इनमें बड़ी विषमता है। हे भाई ! मायावी ठग इस मोक्ष-मार्ग में कदापि नहीं विचर सकते।

बकवृत्तिं समालम्ब्य वञ्चकैर्वञ्चितं जगत्।
कौटिल्यकुशलैः पापैः प्रपन्नं कश्मलाशयैः ॥ ४९ ॥

कुटिलता में चतुर ऐसे मलिन चित्त पापी ठग बगुले के ध्यान की सी वृत्ति (क्रिया) का आलम्बन कर इस जगत को ठगते रहते हैं।

लोकद्वयहितं केचित्तपोभिः कर्त्तुमुद्यताः।
निकृत्या वर्तमानास्ते हन्त हीना न लज्जिताः ॥ ५० ॥

कोई पुरुष तप द्वारा उभय लोक में अपने हित साधनार्थ उद्यमी तो हुए हैं, परन्तु खेद है कि वे मायाचारी नहीं छोडते, अतः बड़े नीच हैं और निर्लज्ज हैं। ऐसा नहीं विचारते कि हम तपस्वी होकर क्यों मायाचार करते हैं ?

---

(४७) ज्ञाना० १९-५९ (४८) ज्ञाना० १९-६१ (४९) ज्ञाना० १९-६७ (५०) ज्ञाना० १९-६१

लोभ प्रत्याख्यान

स्वामिगुरुबन्धुवृद्धानबलाबालांश्च जीर्णदीनादीन् ।
व्यापाद्य विगतशङ्को लोभार्तो वित्तमादत्ते ॥ ५१ ॥

लोभी आदमी स्वामी, गुरु, बंधु, वृद्ध (माता पिता आदि) स्त्री, बच्चे, बुड्ढे और गरीबों को भी मार कर उनका धन ले लेता है।

ये केचित्सिद्धान्ते दोषाः श्वभ्रस्य साधकाः प्रोक्ताः ।
प्रभवन्ति निर्विचारं ते लोभादेव जन्तूनाम् ॥ ५२ ॥

नरक को ले जाने वाले जो जो दोष शास्त्र में कहे गये हैं वे निःसंदेह सब जीवों के लोभ से ही प्रगट होते हैं।

नयन्ति विफलं जन्म प्रयासैर्मृत्युगोचरैः ।
वराकाः प्राणिनोऽजस्रं लोभादप्राप्तवाञ्छिताः ॥ ५३ ॥

पामर प्राणी निरंतर लोभकषाय के वशीभूत होकर वांछित फल को नही पाते हुए मृत्यु का सामना करने वाले अनेक उपायों को करके अपने जन्म को व्यर्थ ही नष्ट कर देते हैं।

शाकेनापीच्छया जातु न भर्तुमुदरं क्षमाः ।
लोभात्तथापि वाञ्छन्ति नराश्चक्रेश्वरश्रियम् ॥ ५४ ॥

अनेक मनुष्य यद्यपि अपनी इच्छा से शाक से भी पेट भरने को कभी समर्थ नहीं होते तथापि लोभ के वश से चक्रवर्ती की सी सम्पदा की इच्छा करते हैं।

---

(५१) ज्ञाना० १९-७० (५२) ज्ञाना० १९-७१ (५३) ज्ञाना० १९-६८ (५४) ज्ञाना० १९-५९

चौथा अध्याय

पाप और उसका निरोध

[क्रोधादि कषायें पापों को उत्पन्न करती हैं इसलिए वे कषायों के परिकर कहला सकते हैं। अतः उन (कषायों) के निरूपण के बाद हिंसादि पापों के वर्णन करने का औचित्य होने के कारण इस अध्याय में हिंसादि पापों और उनके निरोध से संबंधित पद्यों का संग्रह किया गया है।]

हिंसा और अहिंसा

यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥ १ ॥

कषाय (क्रोधादि) के संबंध से (शरीर आदि) द्रव्य और भाव (चैतन्य) रूप प्राणों का विनाश करना ही सुनिश्चित रूप से हिंसा का लक्षण है।

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनाऽत्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥ २ ॥

कषाय सहित आत्मा पहले अपने ही द्वारा अपने को मार डालता है फिर इसमे दूसरे प्राणियों की हिंसा हो या न हो।

हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा ।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥ ३ ॥

हिंसा से विरक्ति न रखना या हिंसा रूप परिणमन करना हिंसा है। अतः प्रमत्त योग (कषाय भाव) होने पर सदा ही प्राण-व्यपरोपण हिंसा है।

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् ।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥ ४ ॥

---

(१) पुरुषा० ४३ (२) पुरुषा० ४७ (३) पुरुषा० ४८ (४) पुरुषा० ४६

राग द्वेषादिक से प्रवृत्त होने वाली प्रमादावस्था में जीव मरे या नहीं मरे निश्चित रूप से हिंसा आगे आगे दौड़ती रहती है।

क्षमादिपरमोदारैर्यमैर्यो वर्द्धितश्चिरम्।
हन्यते स क्षणादेव हिंसया धर्मपादपः ॥ ५ ॥

क्षमा आदि परमोदार जीवन व्रतों से जो धर्म वृक्ष चिरकाल तक बढ़ाया गया है; वह हिंसा के द्वारा क्षण भर में नष्ट कर दिया जाता है।

तपोयमसमाधीनां ध्यानाध्ययनकर्मणां।
तनोत्यविरतं पीडां हृदि हिंसा क्षणस्थिता ॥ ६ ॥

हृदय में क्षण भर भी ठहरी हिंसा तप, यम, समाधि, ध्यान और अध्ययन रूप मानव कर्तव्यों का निरंतर विनाश कर देती है।

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥ ७ ॥

आत्मा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिंसा भी ऐसी नहीं होती जिसमें केवल पर पदार्थ कारण हो तो भी अपने परिणामों की विशुद्धि के लिए हिंसा के कारणों की निवृत्ति करना चाहिए।

अविधायापि हि हिंसा हिंसाफल–भाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफल–भाजनं न स्यात् ॥ ८ ॥

एक आदमी हिंसा नहीं करके भी हिंसात्मक भाव होने के कारण हिंसा के फल का पात्र हो जाता है। और दूसरा हिंसा करके भी हिंसात्मक भाव नहीं होने के कारण हिंसा के फल का भाजन नहीं होता।

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥ ९ ॥

---

(५) ज्ञाना० ८–१४ (६) ज्ञाना० ८–१५ (७) पुरुषा० ४७ (८) पुरुषा० ५१ (९) पुरुषा० ५२

एक की अल्प हिंसा भी हिंसा के तीव्रभाव होने के कारण फल-काल आने पर अनल्प फल देती है और दूसरे की महाहिंसा भी हिंसा के तीव्रभाव न होने से परिपाक के समय थोडा फल देती है।

एकस्य सैव तीव्रं दिशतिफलं सैव मन्दमन्यस्य ।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥१०॥

एक सी ही अहिंसा एक को तीव्र फल देती है और दूसरे को मंद फल। जिन दो मनुष्यों ने मिलकर हिंसा की हो उनके फल में समानता नहीं अपितु विभिन्नता देखी जाती है और इसका कारण भावो की विषमता है।

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृतापि ।
आरभ्यकर्तुमकृताऽपि फलति हिंसानुभावेन ॥ ११ ॥

कभी हिंसा नही करने पर भी पहले ही अपना फल दे देती है। कभी वह की जा रही हो तब फल देती है और कभी कर चुकने बाद फल देती है तथा कभी हिंसा करना आरंभ करके बंद कर देने पर भी फल दे देती है। हिंसा किये बिना भी हिंसा के भाव बन जाने से यह विचित्रता होती है।

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः ।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग्भवत्येकः ॥ १२ ॥

कभी ऐसा भी होता है कि हिंसा तो एक आदमी करता है और उसका फल बहुत लोगों को मिलता है। इसका कारण उस व्यक्ति के द्वारा की गई हिंसा का समर्थन करना है। कभी हिंसा को तो बहुत लोग करते हैं और उसका फल केवल एक आदमी पाता है; क्योंकि उस सारी हिंसा का उत्तरदायित्व उसी एक व्यक्ति पर है।

वधं विधत्ते यदि जातु जन्तुरलं तपोदानविधानयत्नैः ।
तमेव चेन्नाद्रियते कदाचिदलं तपोदानविधानयत्नैः ॥ १३ ॥

(१०) पुरुषा० ५३ (११) पुरुषा० ५४ (१२) पुरुषा० ५५ (१३) नेमि० १३-१९

यदि कभी मनुष्य हिंसा करता है तो तप और दान करने के प्रयत्नों से क्या लाभ और यदि वह कभी हिंसा नहीं करता है तो तप और दान करने के प्रयत्नों की कोई जरूरत ही नहीं है।

तनोतु जन्तुः शतशस्तपांसि ददातु दानानि निरन्तराणि।
करोति चेत्प्राणिवधेऽभिलाषां व्यर्थानि सर्वाण्यपि तानि तस्य ॥१४॥

चाहे मनुष्य सैंकड़ो तप करे और निरंतर दान करता रहे यदि वह प्राणियों की हिंसा करने की अभिलाषा करता है तो उसके वे सब तप और दान व्यर्थ हैं।

न प्राणिनां जातु वधं विधत्ते स्वप्नेऽपि यस्तं न समीहते च।
स सर्वतः सद्गुणजालयोगी भवान्तरे धीवरतां प्रयाति ॥ १५ ॥

जो कभी भी प्राणियों का वध नही करता और जो स्वप्न में भी उसकी इच्छा नहीं करता वह श्रेष्ठ गुणों के जाल को धारण करने वाला दूसरे जन्म मे धीवर अर्थात् श्रेष्ठ बुद्धिवाला बनता है।

अहिंसैव शिवं सूते दत्ते च त्रिदिवश्रियं।
अहिंसैव हितं कुर्याद्व्यसनानि निरस्यति ॥ १६ ॥

अहिंसा ही मनुष्य के परम निःश्रेयस को उत्पन्न करती है। वही स्वर्ग के वैभव को देती है। अहिंसा ही आत्मा का सच्चा हित करती है और वह दुखों की विनाशिका है।

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः।
अहिंसैव गति साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ॥ १७ ॥

अहिंसा ही जगत की माता है क्योंकि उसके बिना जगत का विनाश हो जाता है। अहिंसा ही आनंद का मार्ग अथवा उसकी परम्परा है क्योंकि उसके बिना आनद की प्राप्ति नहीं हो सकती। अहिंसा ही मनुष्य की श्रेष्ठ गति है क्योंकि हिंसा तो प्राणी की दुर्गति है। अहिंसा आत्मा की कभी नष्ट नहीं होने वाली लक्ष्मी है।

---

(१४) नेमि० १३-१८ (१५) नेमि० १३-१४ (१६) ज्ञाना० ८-३१ (१७) ज्ञाना० ८-३२

परमाणोः परं नाल्पं न महद्गगनात्परं।
यथा किञ्चित्तथा धर्मो नाहिंसालक्षणात्परः ॥ १८ ॥

जैसे परमाणु से कोई छोटा नहीं है और आकाश से कोई बड़ा वैसे ही अहिंसा से उत्कृष्ट कोई धर्म नहीं है।

तपः श्रुतयमज्ञानध्यानदानादिकर्मणां।
सत्यशीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता ॥ १९ ॥

अहिंसा तप, श्रुत, यम, ज्ञान, ध्यान और दान आदि एवं सत्य, शील और व्रतादिकों की माता है।

अहिंसैकाऽपि यत्सौख्यं कल्याणमथवा शिवम्।
दत्ते तद्देहिनां नायं तपःश्रुतयमोत्करः ॥ २० ॥

अकेली अहिंसा देहधारियों को जो सुख स्वस्थता एवं शिव को देती है वैसे सुख, स्वस्थता आदि तप, शास्त्रज्ञान और संयम नहीं देते।

किं न तप्तं तपस्तेन किं न दत्तं महात्मना।
वितीर्णमभयं येन प्रीतिमालम्ब्य देहिनाम् ॥ २१ ॥

उस महात्मा ने कौन सा तप नहीं तपा और कौनसा दान नहीं दिया जिसने प्रेम पूर्वक देहधारियों को अभय प्रदान कर दिया है।

कृपा सुधेवात्ममहाम्बुराशौ हिंसा सुरेव द्वयमभ्युदेति।
एका नराणाममरत्वहेतुरन्या तु मूर्च्छां पतनाय दत्ते ॥ २२ ॥

आत्मा रूप महा समुद्र में अमृत की तरह कृपा पैदा होती है और शराब की तरह हिंसा। एक मनुष्यों के अमृतत्व का कारण है और दूसरी पतन का कारण।

---

(१८) ज्ञाना० ८-४१ (१९) ज्ञाना० ८-४२ (२०) ज्ञाना० ८-४७ (२१) ज्ञाना० ८-५४
(२२) नेमि० १३-२१

त्रैलोक्यस्य परित्यज्य लाभं मरणभीरवः ।

इच्छन्ति जीवनं जीवा नान्यदस्ति ततः प्रियम् ॥ २३ ॥

मरण से डरने वाले लोग तीन लोक की प्राप्ति को भी छोड़ कर अपने जीवन की इच्छा करते हैं। उनके लिए उससे अधिक कोई प्रिय नहीं है।

सत्याद्युत्तरनिःशेषयमजातनिबन्धनम् ।

शीलैश्वर्याद्यधिष्ठानमहिंसाख्यं महाव्रतम् ॥ २४ ॥

अहिंसा नाम का महाव्रत इतना विशाल है कि उसमें सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामक सारे यमों का समावेश हो जाता है। यही शील और ऐश्वर्यादिकों का अधिष्ठान है।

असत्य और सत्य

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि ।

तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ॥ २५ ॥

प्रमाद अर्थात् क्रोधादि कषायों के अधीन होकर जो कुछ बोला जाता है वही भूठ कहलाता है और उसके चार भेद होते है।

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु ।

तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥ २६ ॥

अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जो वस्तु सत् है उसका निषेध करना पहला असत्य है, जैसे देवदत्त के होने पर भी यह कह देना कि देवदत्त यहां नहीं है।

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः ।

उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः ॥ २७ ॥

जो पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में असत् है उसे सत् कहना वह दूसरा असत्य का भेद है; जैसे घड़े के नहीं होने पर भी यह कहना कि यहां घड़ा है।

---

(२३) पद्मपु० ५–३२७ (२४) ज्ञाना० ८-३ (२५) पुरुषा० ९१ (२६) पुरुषा० ९२ (२७) पुरुषा० ९३

वस्तु सदपि स्वरूपात्पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् ।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाश्वः ॥ २८ ॥

अन्य वस्तु को अन्य वस्तु रूप कहना यह झूठ का तीसरा भेद है, जैसे गाय को घोडा कहना।

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत् ।
सामान्येन त्रेधामतमिदमनृतं तुरीयं तु ॥ २९ ॥

झूठ का एक चौथा भेद और है, वह तीन प्रकार का है–गर्हित, अवद्य और अप्रिय।

पैशुन्यहासगर्भं–कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च ।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥ ३० ॥

चुगली खाना, हांसी करना, कठोर बोलना, असंगत बात करना, अधिक बोलना और भी जो कोई सूत्र विरुद्ध कहना गर्हित कहलाता है।

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि ।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥ ३१ ॥

किसी को छेदने, टुकडे करने, मारने, बांधकर खेंचने, वाणिज्य (छल कपट सहित व्यापार) और चोरी के वचन कहने आदि सावद्य कहलाता है। ऐसे वचनों से हिंसा आदि पापों की प्रवृत्ति होती है।

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम् ।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम् ॥ ३२ ॥

द्वेष के करने वाले एवं भय, खेद, शोक और लडाई के करने वाले तथा और भी जो कोई दूसरे के संताप के कारण वचन हैं सब अप्रिय कहलाते हैं।

---

(२८) पुरुषा० ९४ (२९) पुरुषा० ९५ (३०) पुरुषा० ९६ (३१) पुरुषा० ९७ (३२) पुरुषा० ९८

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत् ।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवसरति ॥ ३३ ॥

ये जितने भी झूठ वचनों के भेद गिनाए हैं उन सबमे मन का कालुष्य कारण है अतः निश्चित रूप मे झूठ बोलने में हिंसा आजाती है।

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम् ।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ॥ ३४ ॥

जितने भी झूठे वचन हैं उनका कारण आत्मा के कलुषित भाव है इसलिए छोड़ने योग्य कार्यों का उल्लेख करना झूठ नही है।

कन्यामिवासाधुवरप्रदानाद्यः स्वां गिरं दूषयति व्यलीकात् ।
इहायशस्तस्य विगर्हणीयमनर्हणीयाश्च परेऽस्य लोकाः ॥ ३५ ॥

अयोग्य वर को प्रदान कर कन्या का अहित करने की तरह जो झूठ मे अपनी वाणी को दूषित करते हैं उनका इस लोक मे अपयश होता है और उनके पर लोक भी निन्दनीय हो जाते हैं।

सूनृतं करुणाक्रान्तमविरुद्धमनाकुलम् ।
अग्राम्यं गौरवाश्लिष्टं वचः शास्त्रे प्रशस्यते ॥ ३६ ॥

प्रिय और सच्चा, दया सहित, विरोध रहित, आकुलता रहित, शिष्टता सहित और गौरव विशिष्ट वचन ही प्रशंसा के योग्य है।

मौनमेवहितं पुंसां शश्वत्सर्वार्थसिद्धये ।
वचो वाचि प्रियं तथ्यं सर्वसत्वोपकारि यत् ॥ ३७ ॥

मनुष्यों के लिए मौन ही सदा हितकारी है और वही सर्व प्रयोजनों की सिद्धि का कारण है और यदि वचन बोलना हो तो ऐसा बोलना चाहिए जो प्रिय हो, यथार्थ हो और सारे जीवों का उपकारी हो।

---

(३३) पुरुषा० ९९ (३४) पुरुषा० १०० (३५) नेमि० १३-२२ (३६) ज्ञाना० ९
(३७) ज्ञाना० ९-१

पृष्टैरपि न वक्तव्यं न श्रोतव्यं कथंचन ।
वचः शङ्काकुलं पापं दोषाढ्यं चाभिसूयकम् ॥ ३८ ॥

पूछने पर भी ऐसा वचन नहीं बोलना चाहिए और न सुनना चाहिए जो संदेह सहित, पापमय, दोष वाला और डाह पैदा करने वाला हो।

मर्मच्छेदि मनःशल्यं च्युतस्थैर्यं विरोधकम् ।
निर्दयं च वचस्त्याज्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ ३९ ॥

मर्म भेदन करने वाला, मन में सदा चुभते रहने वाला, अस्थिरता को उत्पन्न करने वाला, विरोध का कारण और दया रहित वचन कण्ठगत प्राण होने पर भी नहीं बोलना चाहिए।

धन्यास्ते हृदये येषामुदीर्णः करुणाम्बुधिः ।
वाग्वीचिसञ्चयोल्लासैर्निर्वापयति देहिनः ॥ ४० ॥

वे लोग धन्य हैं जिनके हृदय में करुणा का समुद्र उमड़ गया है जो वाणी की तरंगों के समूह के उल्लास से देहधारियों को आनन्द प्रदान करता है।

सर्वलोकप्रिये तथ्ये प्रसन्ने ललिताक्षरे ।
वाक्ये सत्यपि किं ब्रूते निकृष्टः परुषं वचः ॥ ४१ ॥

ऐसे कठोर वचन बोल कर मनुष्य अधम क्यों बनता है जबकि इस संसार में सब लोगों को प्रिय लगने वाले, यथार्थ और सुन्दर अक्षरों वाले वाक्य मौजूद हैं।

कुटुम्बं जीवितं वित्तं यद्यसत्येन वर्द्धते ।
तथापि युज्यते वक्तुं नासत्यं शीलशालिभिः ॥ ४२ ॥

कुटुम्ब, जीवन और धन असत्य से वृद्धि को प्राप्त होता हो तब भी शील-वान पुरुषों को असत्य वचन बोलना उचित नहीं है।

---

(३८) ज्ञाना० ६-१२ (३९) ज्ञाना० ६-१३ (४०) ज्ञाना० ६-१६ (४१) ज्ञाना० ६-२२
(४२) ज्ञाना० ६-३२

एकतः सकलं पापमसत्योत्थं ततोऽन्यतः ।

साम्यमेव वदन्त्यार्यास्तुलायां धृतयोस्तयोः ॥ ४३ ॥

एक ओर संपूर्ण पाप है और दूसरे पलड़े में असत्य वचन है। विद्वान लोग कहते हैं कि दोनों को तराजू में तोलने पर बिलकुल बराबर ठहरते हैं।

सुतस्वजनदारादिवित्तबन्धुकृतेऽथवा ।

आत्मार्थे न वचोऽसत्यं वाच्यं प्राणात्ययेऽथवा ॥ ४४ ॥

पुत्र, कुटुम्बी, स्त्री, आदि तथा धन और रिश्तेदारों एवं अपने लिए भी प्राणों का संकट उपस्थित हो जाने पर भी असत्य वचन नहीं बोलना चाहिए।

स्तेय और अस्तेय

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत् ।

तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा बधस्य हेतुत्वात् ॥ ४५ ॥

कषायों के अधीन होकर बिना दिये हुए किसी वस्तु का ग्रहण करना चोरी है। चोरी भी हिंसा ही है क्योंकि उससे दूसरों को दुख होता है।

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम् ।

हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥ ४६ ।

धन मनुष्य का बाहिरी प्राण है। जो उसका हरण करता है वह उसके प्राणों का हरण करता है।

हिंसायां स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघट एव सा यस्मात् ।

ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ॥ ४७ ॥

चोरी भी एक प्रकार की हिंसा ही है, क्योंकि दूसरे की वस्तु को ग्रहण करने से उसे पीड़ा होती है।

(४३) ज्ञाना० ६-३३ (४४) ज्ञाना० ६-४० (४५) पुरुषा० १०२ (४६) पुरुषा० १०३ (४७) पुरुषा० १०४

वित्तमेव मतं सूत्रे प्राणा बाह्याः शरीरिणाम् ।
तस्यापहारमात्रेण स्युस्ते प्रागेव घातिताः ॥ ४८ ॥

सूत्र में कहा है कि शरीर धारियों के बाह्य प्राण धन है। अतः उसके अपहरण मात्र से वे प्राण मृत्यु के पहले ही नष्ट हो चुकते हैं।

गुणा गौणत्वमायान्ति यान्ति विद्या विडम्बनाम् ।
चौर्येणाकीर्त्तयः पुंसां शिरस्याादधते पदं ॥ ४९ ॥

चोरी के कारण मनुष्य के सारे गुणों की प्रधानता नष्ट हो जाती है, व निकम्मे हो जाते हैं। उसकी सारी विद्याएं विडम्बना को प्राप्त हो जाती हैं, एक प्रकार का स्वांग बन जाता है। चोरी से मनुष्य के माथे पर अपयश का कलंक चढ जाता है।

हृदि यस्य पदं धत्ते परवित्तामिषस्पृहा ।
करोति किं न किं तस्य कण्ठलग्नेव सर्पिणी ॥ ५० ॥

जिसके हृदय में दूसरे के धन रूपी-मांस को ग्रहण करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है वह कंठ में लगी हुई सांपणी की तरह डस कर उसका क्या क्या नुकसान नहीं करती।

चुराशीलं विनिश्चित्य परित्यजति शङ्किता ।
वित्तापहारदोषेण जनन्यपि सुतं निजम् ॥ ५१ ॥

चोरी करने का जिसका स्वभाव हो गया है ऐसे पुत्र को शंकित होकर औरों की कौन कहे उसकी माता भी चोरी के दोष के कारण उसे छोड देती है।

भ्रातरः पितरः पुत्राः स्वकुल्या मित्रबान्धवाः ।
संसर्गमपि नेच्छन्ति क्षणार्द्धमिह तस्करैः ॥ ५२ ॥

---

(४८) ज्ञाना० १०-३ (४९) ज्ञाना० १०-४ (५०) ज्ञाना० १०-७ (५१) ज्ञाना० १०-८
(५२) ज्ञाना० १०-९

इस संसार में भाई, बाप, पुत्र, सगे संबंधी और मित्र भी चोरों का एक क्षण-भर भी संसर्ग पसंद नहीं करते

न जने न वने चेतः स्वस्थं चौरस्य जायते।
मृगस्येवोद्धतव्याधादाशङ्कय वधमात्मनः ॥ ५३ ॥

जैसे निर्दय शिकारी के द्वारा मृत्यु पाने की आशंका से हरिण का मन कहीं भी स्वस्थ नहीं रहता इसी प्रकार चोर का मन न तो जनाकुल स्थान मे ही स्वस्थ रहता है और न जंगल में ही।

संत्रासोद्‌भ्रान्तचेतस्कश्चौरो जागर्त्यहर्निशम्।
वध्येयात्र ध्रियेयात्र मार्येयात्रेति शङ्कितः ॥ ५४ ॥

चोर रात दिन जागता रहता है क्योंकि उसका चित्त हमेशा भय से व्याकुल रहता है। हमेशा उसे यह शंका बनी रहती है कि कहीं मैं मारा न जाऊं, पकड़ा न जाऊं और परेशान न किया जाऊं।

नात्मरक्षां न दाक्षिण्यं नोपकारं न धर्मतां।
न सतां शंसितं कर्म चौरः स्वप्नेपि बुद्धयति ॥ ५५ ॥

चोर स्वप्न में भी आत्मरक्षा, अनुकूलता, उपकार, कर्तव्य और सज्जनों के द्वारा प्रशंसित कार्य का खयाल नहीं करता।

सरित्पुरगिरिग्रामवनवेश्मजलादिषु।
स्थापितं पतितं नष्टं परस्वं त्यज सर्वथा ॥ ५६ ॥

इसलिए नदी, नगर, पहाड़, गांव, जंगल, घर और जल आदि में रखा हुआ, गिरा हुआ, खोया हुआ धन सदा के लिए छोड़ दो, उसे कभी मत लो।

चिदचिद्रूपतापन्नं यत्परस्वमनेकधा।
तत्त्याज्यं संयमोद्दामसीमासंरक्षणोद्यमैः ॥ ५७ ॥

---

(५३) ज्ञाना० १०-१० (५४) ज्ञाना० १०-११ (५५) ज्ञाना० १०-१२ (५६) ज्ञाना० १०-१६
(५७) ज्ञाना० १०-१७

अतः संयम की सीमा के रक्षण करने का उद्योग करने वाले लोगों को चेतन और अचेतन रूप दूसरे के धन का त्याग कर देना चाहिए। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चेतन धन हैं और इनके अतिरिक्त सभी अचेतन हैं।

आस्तां परधनादित्सां कर्त्तुं स्वप्नेऽपि धीमताम् ।
तृणमात्रमपि ग्राह्यं नादत्तं दन्तशुद्धये ॥ ५८ ॥

दूसरों के धन को लेने की इच्छा तो रहने दो। बुद्धिमानों का कर्तव्य है कि वे स्वप्न में भी दंत शुद्धि तक के लिए भी दिया हुआ तृण ही ग्रहण करें, नहीं दिया हुआ कभी नहीं।

मैथुन और अमैथुन

किम्पाकफलसंभोगसन्निभं तद्धि मैथुनम् ।
आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम् ॥ ५९ ॥

निश्चय से वह मैथुन किंपाक फल (इन्द्रायण) के खाने के समान है जो देखने अथवा खाने मे तो सुन्दर मालूम होता है किन्तु परिणाम में अत्यंत भयंकर है।

सिक्तोऽप्यम्बुधरव्रातैः प्लावितोऽप्यम्बुराशिभिः ।
न हि त्यजति संतापं कामवह्निप्रदीपितः ॥ ६० ॥

काम रूप आग से जला हुआ प्राणी बादलों के समूह से सींचा गया हुआ और समुद्रों के द्वारा स्नान करवाया गया हुआ भी संताप को नहीं छोड़ता।

अचिन्त्यकामभोगीन्द्रविषव्यापारमूर्च्छितम् ।
वीक्ष्य विश्व विवेकाय यतन्ते योगिनः परं ॥ ६१ ॥

जो कल्पना में नहीं आसकता ऐसे काम रूपी सांप के जहर के व्यापार मे मूर्च्छित संसार को देख कर योगी लोग केवल विवेक के लिए प्रयत्न करते हैं।

स्मरव्यालविषोद्गारैर्वीक्ष्य विश्वं कदर्थितम् ।
यमिनः शरणं जग्मुर्विवेकविनतासुतम् ॥ ६२ ॥

(५८) ज्ञाना० १०-१८ (५९) ज्ञाना० ११-१० (६०) ज्ञाना० ११-११ (६१) ज्ञाना० ११-१६ (६२ ज्ञाना० ११-१७

काम रूपी सांप के जहर के उद्‌गारों से पीडित विश्व को देख कर संयमी लोग विवेक रूपी गरुड़ के शरण को प्राप्त होते हैं।

नासने शयने याने स्वजने भोजने स्थितिम् ।
क्षणमात्रमपि प्राणी प्राप्नोति स्मरशल्यत: ॥ ६३ ॥

काम रूपी कांटे से पीडित प्राणी बैठने, सोने, चलने, स्वजन और भोजन में क्षण भर भी स्थिति को प्राप्त नहीं होता ।

वित्तवृत्तबलस्यान्तं स्वकुलस्य च लाञ्छनम् ।
मरणं वा समीपस्थं न स्मरार्त्तः प्रपश्यति ॥ ६४ ॥

काम से पीडित मनुष्य धन, चरित्र और शक्ति के विनाश, एवं अपने कुल के लांछन और समीप में उपस्थित मौत को भी नहीं देखता है।

न पिशाचोरगा रोगा न दैत्यग्रहराक्षसा: ।
पीडयन्ति तथा लोकं यथाऽयं मदनज्वर: ॥ ६५ ॥

जिस तरह यह काम ज्वर मनुष्य को पीडा देता है उस तरह पिशाच, रोग, दैत्य, ग्रह और राक्षस भी पीडा नहीं देते ।

दक्षो मूढ: क्षमी क्रुद्धः शूरो भीरुर्गुरुर्लघु: ।
तीक्ष्ण: कुण्ठो वशी भ्रष्टो जन: स्यात्स्मरवञ्चित: ॥ ६६ ॥

काम से ठगा हुआ मनुष्य चतुर तो मूढ हो जाता है, क्षमावान क्रोधी, बहादुर डरपोक, बड़ा छोटा, उद्योगी आलसी और जितेन्द्रिय भ्रष्ट हो जाता है।

विदन्ति परमं ब्रह्म यत्समालम्ब्य योगिन: ।
तद्व्रतं ब्रह्मचर्यं स्याद्वीरधौरेयगोचरम् ॥ ६७ ॥

---

(६३) ज्ञाना० ११-३६ (६४) ज्ञाना० ११-३७ (६५) ज्ञाना० ११-३८ (६६) ज्ञाना० ११-४० (६७) ज्ञाना० ११-१

जिसका आश्रय कर योगी जन परम ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं; जिसे धीर-वीरों में श्रेष्ठ पुरुष ही धारण कर सकते हैं सामान्य जन नहीं, वह ब्रह्मचर्य व्रत है।

नाल्पसत्त्वैर्न निःशीलैर्न दीनैर्नाक्षनिर्जितैः।
स्वप्नेऽपि चरितुं शक्यं ब्रह्मचार्यमिदं नरैः॥ ६८॥

यह ब्रह्मचर्य व्रत न तो कमजोर लोगों के द्वारा, न शील रहित लोगों के द्वारा न दीनों के द्वारा और न इन्द्रियों से जीते हुए लोगों के द्वारा स्वप्न में भी आचरण करने के योग्य है।

परिग्रह और अपरिग्रह

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः॥ ६९॥

मूर्च्छा का ही दूसरा नाम परिग्रह है। मोह कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला जो पर पदार्थों में ममत्व परिणाम है वही मूर्च्छा है।

यानपात्रमिवाम्भोधौ गुणवानपि मज्जति।
परिग्रहगुरुत्वेन संयमी जन्मसागरे॥ ७०॥

गुणवान एवं संयमी मनुष्य भी परिग्रह से भारी हो जाने के कारण समुद्र मे जहाज की तरह संसार सागर में डूब जाता है।

बाह्यान्तर्भूतभेदेन द्विधा ते स्युः परिग्रहाः।
चिदचिद्रूपिणो बाह्या अन्तरङ्गास्तु चेतनाः॥ ७१॥

परिग्रह के दो भेद हैं—बाह्य और अभ्यंतर। बाह्य परिग्रह चेतन और अचेतन रूप से दो प्रकार का होता है। पशु पक्षी आदि चेतन और धन, धान्य, मकान आदि अचेतन परिग्रह हैं। अन्तरंग परिग्रह का एक ही चेतन रूप भेद है।

---

(६८) ज्ञाना० ११-५ (६९) पुरुषा० १११ (७०) ज्ञाना० १६-१ (७१) ज्ञाना० १६-२

संगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्धिंसा तयाऽशुभम् ।
तेन श्वाभ्री गतिस्तस्यां दुःखं वाचामगोचरम् ॥ ७२ ॥

परिग्रह से काम अथवा इच्छा की उत्पत्ति होती है। इच्छा मे क्रोध और उससे हिंसा। हिंसा से अशुभ भाव उत्पन्न होता है और अशुभ भाव मे उस नरक गति को प्राप्त होता है जिसमें वाणी के अगोचर दुख है।

यः संगपङ्कनिमग्नोऽप्यपवर्गाय चेष्टते।
स मूढः पुष्पनाराचैर्विभिन्द्यात्त्रिदशाचलम् ॥ ७३ ॥

परिग्रह के कीचड में फंसा हुआ भी जो मूर्ख मुक्ति के लिए चेष्टा करता है वह फूलों के बाणों से सुमेरु का भेदन करना चाहता है।

अणुमात्रादपि ग्रन्थान्मोहग्रन्थिर्दृढीभवेत् ।
विसर्पति ततस्तृष्णा यस्यां विश्वं न शान्तये ॥ ७४ ॥

अणुमात्र परिग्रह से भी मोह की गांठ दृढ हो जाती है और उससे तृष्णा बढ जाती है, उसके विस्तार से सारा विश्व मिल जाने पर भी शांति नही होती।

पुण्यानुष्ठानजातेषु निःशेषाभीष्टसिद्धिषु ।
कुर्वन्ति नियतं पुंसां प्रत्यूहं धनसंग्रहाः ॥ ७५ ॥

धन का संग्रह मनुष्य के लिए संपूर्ण भले कार्यों और सभी इष्टसिद्धियों मे निश्चित रूप से विघ्न पैदा कर देता है।

स्मरभोगीन्द्रवल्मीकं रागाद्यारिनिकेतनं ।
क्रीडास्पदमविद्यानां बुधैर्वित्तं प्रकीर्तितम् ॥ ७६ ॥

धन के विषय में विद्वानों ने कहा है कि वह काम रूपी सांप की बामी है। वह मनुष्य के रागादि दुश्मनों का मकान है और अविद्याओं का घर है।

(७२) ज्ञाना० १६-१२ (७३) ज्ञाना० १६-१६ (७४) ज्ञाना० १६-२० (७५) ज्ञाना० १६-२४
(७६) ज्ञाना० १६-२८

अत्यल्पे धनजम्बाले निमग्नो गुणवानपि।
जगत्यस्मिन् जन: क्षिप्रं दोषलक्षैः कलङ्क्यते ॥ ७७ ॥

थोड़े भी धन रूपी कीचड़ में फंसा हुआ गुणवान मनुष्य भी इस जगत में जल्दी ही लाखों दोषों से कलंकित हो जाता है।

संन्यस्तसर्वसंगेभ्यो गुरुभ्योऽप्यतिशंक्यते।
धनिभिर्धनरक्षार्थं रात्रावपि न सुप्यते ॥ ७८ ॥

धनवान लोग अपने धन की रक्षा के लिए जिन्होंने सब परिग्रह छोड़ दी है ऐसे गुरुओं से शंकित रहते हैं और वे रात को भी नहीं सोते।

सुतस्वजनभूपालदुष्टचौरारिविड् वरात्।
बन्धुमित्रकलत्रेभ्यो धनिभिः शङ्क्यते भृशं ॥ ७९ ॥

पुत्र स्वजन, राजा, दुष्ट, चोर, शत्रु, बदमाश भाई, मित्र और अपनी स्त्री से भी धनी लोग शंकित रहते है।

बाह्यानपि च यः सङ्गान्परित्यक्तुमनीश्वरः।
स क्लीबः कर्मणां सैन्यं कथमग्रे हनिष्यति ॥ ८० ॥

जो बाह्य परिग्रहों को छोड़ने में भी असमर्थ है वह नपुंसक आगे कर्मों की सेना का कैसे हनन करेगा ?

तस्मादयं भोगपथो न पथ्यः प्रेक्षावतामिन्द्रियदस्युदुष्टः।
अनेन जन्तुर्विचरन्ननन्तदुःखाटवीपर्यटनं करोति ॥ ८१ ॥

इन्द्रियों रूपी ठगों या लुटेरों से दुष्ट ऐसा यह भोगों का मार्ग समझदारों के लिए कभी भी हितकर नहीं हो सकता। इस मार्ग से चलता हुआ मनुष्य अनंत दुख रूपी जंगल का भ्रमण करता है।

---

(७७) ज्ञाना० १६-२९ (७८) ज्ञाना० १६-३० (७९) ज्ञाना० १६-३१ (८०) ज्ञाना० १६-२७
(८१) नेमि० १३-२४

विज्ञाननिहितमोहं कुटीप्रवेशो विशुद्धकायमिव ।
त्यागः परिग्रहाणामवश्यमजरामरं कुरुते ॥ ८२ ॥

परिग्रहों का त्याग मनुष्य को जरूर ही अजर और अमर बना देता है जैसे कुटी में प्रवेश करना कायाकल्प कर देता है वैसे ही विज्ञान के द्वारा मोह का नाश होने पर मनुष्य शुद्ध बन जाता है ।

अकिञ्चनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥ ८३ ॥

मैंने तुम्हें आत्मा का उत्कृष्ट रहस्य बतलाया है, जिसे केवल योगी ही जानते है और वह यह है कि तू अकिंचनता का अनुभव कर, इससे तू तीन लोक का अधिपति हो जायगा ।

कथं चेतोविशुद्धिः स्यात् परिग्रहवतां सताम् ।
चेतोविशुद्धिमूला च तेषां धर्मे स्थितिः कुतः ॥ ८४ ॥

परिग्रह वाले साधुओं के चित्त की शुद्धि कैसे हो सकती है इसलिए चेतोविशुद्धिमूलक धर्म की स्थिति भी उनके कैसे हो सकती है ?

यावत्परिग्रहासक्तिस्तावत्प्राणिनिपीडनम् ।
हिंसातः संसृतेर्मूलं दुःखं संसारसंज्ञकम् ॥ ८५ ॥

जब तक परिग्रह में आसक्ति है तब तक प्राणियों का पीडन जरूर होगा । हिंसा से ही भवभ्रमण का मूल संसार नाम का दुख होता है ।

[पांचों पापों का त्याग ही व्रत है]

हिंसाऽनृतचुराऽब्रह्मग्रन्थेभ्यो विरतिर्व्रतम् ।
तत्सत्सज्ज्ञानपूर्वत्वात् सद्दृशश्चोपबृंहणाद् ॥ ८६ ॥

---

(८२) आत्मानु० १०८ (८३) आत्मानु० ११० (८४) पद्मपु० २-१८० (८५) पद्मपु० २-१८१
(८६) अनगा० ४-१९

हिंसा झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांचों मे विरक्ति व्रत कहलाता है। वह व्रत सत् तब कहलाता है जब सम्यग् ज्ञान पूर्वक होता है और जब उसका सच्ची श्रद्धा से उपबृंहण (वर्द्धन) होता है।

अहो व्रतस्य माहात्म्यं यन्मुखं प्रेक्षतेतराम्।
उद्द्योततिशयाधाने फलसंसाधने चदृक्॥ ८७॥

व्रत का माहात्म्य आश्चर्यकारी है, क्योंकि सम्यग्दर्शन शंकादि मलों को दूर करने में, कर्मों को नाश करने की शक्ति के उत्कर्ष के संपादन करने में नाना प्रकार के अपायों के नाश करने रूप फल के विषय में व्रत के मुंह की ओर ताकता रहता है।

विभोगसारङ्गहृतो हि जन्तुः परां भुवं कामपि गाहमानः।
हिंसानृतस्तेयमहावनान्तर्बम्भ्राम्यते रेचितसाधुमार्गः॥ ८८॥

बिभोग रूप हरिण के द्वारा हृत यह जन्तु नहीं कह सकते कि कहां का कहां चला जाता है और सच्चा मार्ग छोडकर हिंसा, झूठ और चोरी के महा बन के भीतर खूब अथवा बार २ घूमता रहता है।

निर्व्रतः संसृतौ दीर्घमश्नन् दुःखान्यनारतम्।
अपारं खेदमायाति दुर्भिदो दुर्विधो यथा॥ ८९॥

व्रत हीन प्राणी संसार में निरंतर दुखों को भोगता हुआ अपार खेद को प्राप्त होता है जैसे दुर्भिक्ष पडने पर दरिद्र मनुष्य।

व्रतात्प्रत्ययमायाति निर्व्रतः शङ्क्यते जनैः।
व्रती सफलवृक्षो व निर्व्रतो बंध्यवृक्षवत्॥ ९०॥

व्रत से मनुष्य में विश्वास उत्पन्न हो जाता है; किन्तु व्रतहीन मनुष्य पर लोग शंका करने लगते हैं। व्रती को सफल वृक्ष कहा जा सकता है और अव्रती को निष्फल झाड।

(८७) अनगा० ४-२०(८८) नेमि० १३-६(८९) महापु० ७६-१७२(९०) महापु० ७६-१७३

अभीष्टफलमाप्नोति व्रतवान्परजन्मनि ।
न व्रतादपरो बन्धुर्नाव्रतादपरो रिपुः ॥ ६१ ॥

पाप निरोधी मनुष्य दूसरे जन्म में अभीष्ट फल को प्राप्त होता है। पाप के निरोध के अतिरिक्त मनुष्य का कोई बंधु नहीं है और अव्रत के अतिरिक्त कोई शत्रु।

सर्ववाग्व्रतिनो ग्राह्या निर्व्रतस्य न केनचित् ।
उग्राभिर्देवताभिश्च व्रतवान्नाभिभूयते ॥ ६२ ॥

चरित्रवान मनुष्य की वाणी सबके द्वारा ग्राह्य होती है; किन्तु चरित्रहीन की वाणी को कोई मान्य नहीं करता। चरित्रवान मनुष्य का (मनुष्य की कौन कहे) उग्र देवता भी कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते।

जरन्तोऽपि नमन्त्येव व्रतवन्तं वयोनवम् ।
वयोवृद्धो व्रताद्धीनस्तृणवद् गण्यते जनैः ॥ ६३ ॥

चरित्रवान नौजवान मनुष्य को वृद्ध भी नमस्कार करते हैं। किन्तु चरित्रहीन वयो वृद्ध भी लोगों के द्वारा तृण की तरह गिना जाता है।

प्रवृत्त्यादीयते पापं निवृत्त्या तस्य सङ्क्षयः ।
व्रतं निवृत्तिमेवाहुस्तद्ग्रहणात्युत्तमो व्रतम् ॥ ६४ ॥

बुरे कार्यों में प्रवृत्ति करने से पाप और उनकी निवृत्ति से उसका क्षय होता है। अतः बुरे कार्यों से निवृत्त होना ही व्रत कहलाता है तथा उसीका नाम चारित्र है और उत्तम मनुष्य उसे ही ग्रहण करता है।

---

(६१) महापु० ७६-३७४ (६२) महापु० ७६-३७५ (६३) महापु० ७६-३७६
(६४) महापु० ७६-३७७

पंचम अध्याय

आशा पिशाची

[पाप और आशा के विस्तार का परस्पर गहन संबंध है। आशा ही पापो के विस्तार को प्रेरणा देती है; अतः पापों की बुराई के अनंतर आशा की भयंकरता का वर्णन होना जरूरी है। इस अध्याय में आशा पिशाची के शीर्षक के नीचे कुछ उपयोगी पद्यों का संकलन पठनीय है।]

यावद्यावच्छरीराशा धनाशा वा विसर्पति।
तावत्तावन्मनुष्याणां मोहग्रन्थिर्दृढीभवेत् ॥ १ ॥

ज्यों ज्यों मनुष्यों की शरीर की आशा और धन की आशा फैलती जाती है त्यों त्यों उनकी मोह की गांठ दृढ होती जाती है।

अनिरुद्धा सती शश्वदाशा विश्वं प्रसर्पति।
ततो निबद्धमूलाऽसौ पुनश्छेत्तुं न शक्यते ॥ २ ॥

यदि आशा को नहीं रोका जाय तो यह सारे विश्व मे फैल जाती है और जब यह बद्धमूल हो जाती है तो फिर इसका छेदना शक्य नहीं है।

यद्याशा शान्तिमायाता तदा सिद्धं समीहितम्।
अन्यथा भवसंभूतो दुःखवार्धिर्दुरुत्तरः ॥ ३ ॥

यदि आशा शांत हो गई हो तो समझो कि मनोरथ सिद्ध हो गया। नही तो ससार में उत्पन्न होने वाले दुख समुद्र से पार पाना मुश्किल है।

आशैव मदिराऽक्षाणामाशैव विषमञ्जरी।
आशामूलानि दुःखानि प्रभवन्तीह देहिनाम् ॥ ४ ॥

---

(१) ज्ञाना० १७–२ (२) ज्ञाना० १७–३ (३) ज्ञाना० १७–४ (४) ज्ञाना० १७–७

आशा ही इंद्रियों के लिए शराब है और आशा ही विषमंजरी है। शरीर-धारियों के सारे दुःख आशा मूलक है।

त एव सुखिनो धीरा यैराशाराक्षसी हता।
महाव्यसनसंकीर्णश्चोत्तीर्णः क्लेशसागरः ॥ ५ ॥

दुनियां में वे ही लोग सुखी हैं जिन्होंने आशा राक्षसी का हनन कर दिया है। वे ही लोग महा व्याधियों से व्याप्त क्लेश के सागर से पार उतर सकते हैं।

येषामाशा कुतस्तेषां मनःशुद्धिः शरीरिणाम्।
अतो नैराश्यमालंब्य शिवीभूता मनीषिणः ॥ ६ ॥

जिन जीवों के आशा लगी हुई है उनको मन शुद्धि कैसे हो सकती है? इसी लिए नैराश्य का अवलंबन करके ही मनीषी लोगो ने शिवको प्राप्त किया है।

तस्य सत्यं श्रुतं वृत्तं विवेकस्तत्त्वनिश्चयः।
निर्ममत्वं च यस्याशापिशाची निधनं गता ॥ ७ ॥

जिसकी आशा रूपी पिशाची मर गई है उसी के श्रुत, चारित्र, विवेक, तत्त्व का निश्चय और निर्ममत्व वास्तविक सार्थक है।

यावदाशानलश्चित्ते जाज्वलीति विशृङ्खलः।
तावत्तव महादुःखादाहशान्तिः कुतस्तनी ॥ ८ ॥

जब तक निर्बाध होकर आशारूपी आग जलती रह सकती है तब तक तुम्हारे महादुख के दाह की शांति कैसे हो सकती है?

न मज्जति मनो येषामाशाम्भसि दुरुत्तरे।
तेषामेव जगत्यस्मिन्फलितो ज्ञानपादपः ॥ ९ ॥

जिनका मन दुरुत्तर आशा रूपी जल में नही डूबता उन्हीं का ज्ञान वृक्ष इस जगत में फलवान हो सकता है।

---

(५) ज्ञाना० १७-८ (६) ज्ञाना० १७-९ (७) ज्ञाना० १७-११ (८) ज्ञाना० १७-१
(९) ज्ञाना० १७-१४

चरस्थिरार्थजातेषु यस्याशा प्रलयं गता ।

किं किं न तस्य लोकेऽस्मिन्मन्ये सिद्धं समीहितम् ॥ १० ॥

स्थावर और जंगम पदार्थों में जिसकी आशा विनाश को प्राप्त हो गई है उसका इस लोक में कौन २ सा मनोरथ सिद्ध नहीं हुआ—अर्थात् सभी मनोरथ सिद्ध होगये-ऐसा मैं मानता हूं।

चापलं त्यजति स्वान्तं विक्रियाश्चाक्षदन्तिनः ।

प्रशाम्यति कषायाग्निर्नैराश्याधिष्ठितात्मनाम् ॥ ११ ॥

जिनका आत्मा नैराश्य से अधिष्ठित हो गया है उनका चित्त चपलता को छोड़ता है और इंद्रिय रूप हाथी विकार का त्याग कर देते हैं तथा कषाय को आग बुझ जाती है।

किमत्र बहुनोक्तेन यस्याशा निधन गता ।

स एव महतां सेव्यो लोकद्वयविशुद्धये ॥ १२ ॥

ज्यादा कहने से क्या ? जिसकी आशा नष्ट हो गई है वही दोनों लोकों की विशुद्धि के लिए महान पुरुषों के द्वारा सेवा करने योग्य है।

आशा जन्मोग्रपङ्काय शिवायाशाविपर्ययः ।

इति सम्यक्समालोच्य यद्धितं तत्समाचर ॥ १३ ॥

आशा जन्म रूपी जबर्दस्त कीचड़ का कारण है और उसका विपर्यय कल्याण का हेतु है, इन दोनों का अच्छी तरह विचार कर जो हित हो वही करो।

न स्याद्धि क्षिप्तचित्तानां स्वेष्टसिद्धिः क्वचिन्नृणाम् ।

कथं प्रक्षीणविक्षेपा भवन्त्याशाग्रहक्षताः ॥ १४ ॥

विक्षिप्त चित्त वाले मनुष्यों की कहीं भी इष्ट सिद्धि नहीं होती—जो लोग आशा के ग्रह से क्षत हैं उनके मन के विक्षेप कभी नष्ट नहीं हो सकते।

---

(१०) ज्ञाना० १७-१६ (११) ज्ञाना० १७-१७ (१२) ज्ञाना० १७-१८ (१३) ज्ञाना० १७-१९
(१४) ज्ञाना० १७-२०

तृष्णाग्निदह्यमानस्त्वं, मूढात्मन्किं नु मुह्यसि ।
लोकद्वयहितध्वंसोर्न हि तृष्णाक्रोर्भिदा ॥ १५ ॥

हे मूढात्मन् ! तृष्णा की आग से जलते हुए तुम क्यों मोहित हो रहे हो ? दोनों लोकों के सुख को नष्ट करने वाले तृष्णा और क्रोध में कुछ भी भेद नहीं है ।

लोकद्वयहितायात्मन्, नैराश्यनिरतो भव ।
धर्मसौख्यच्छिदाशा ते, तरुच्छेदः फलार्थिनाम् ॥ १६ ॥

हे आत्मन् ! तू दोनों लोकों में हित के लिए नैराश्य में निरत हो । तुम्हारी आशा धर्म और सुख दोनों का नाश करने वाली है, और सुख के लिए तृष्णा करना ऐसा ही है जैसा फल चाहने वालों का वृक्ष को काटना ।

---

(१५) क्षत्र० ३-२२ (१६) क्षत्र० ३-२३

षष्ठ अध्याय

विषय भोगों की मृग-मरीचिका

[आशा-पिशाची नामक अध्याय के अनंतर विषय भोगों की मृग-मरीचिका का विवेचन इस अध्याय में किया गया है। इन दोनों का अविनाभाव संबंध है। अतः इस विषय के उपयोगी पद्यों का संकलन यहां किया गया है।]

आयासमात्रमत्राज्ञः सुखमित्यभिमन्यते ।

विषयाशाविमूढात्मा श्वेवास्थि दशनैर्दशन् ॥ १ ॥

विषयों की आशा से विमूढ यह मूर्ख आत्मा दांतों से हड्डी को डसते हुए कुत्ते की तरह आयास (परिश्रम) मात्र को ही 'सुख' ऐसा मानता है।

दुष्टव्रणे यथा क्षार–शस्त्रपाताद्युपक्रमः ।

प्रतीकारो रुजां जन्तोः तथा विषयसेवनम् ॥ २ ॥

जैसे दुष्ट (दोष युक्त) फोडे में क्षार एवं शस्त्र पात वगैरह द्वारा उपचार किया जाता है, वैसे ही विषयों का सेवन जीव के लिए रोगों का प्रतीकार मात्र है।

दग्धव्रणे यथा सान्द्रचन्दनद्रवचर्चनम् ।

किञ्चिदाश्वासजननं तथा विषयजं सुखम् ॥ ३ ॥

जैसे जले हुए फोडे में सघन चंदन के घोल का चर्चन (लेप) कुछ शान्ति का कारण है वैसे ही विषयों से उत्पन्न होने वाला सुख किंचित् आश्वास (सांत्वना) का जनक है।

आपातमात्ररसिका विषया विषदारुणाः ।

तदुद्भवं सुखं नृणां कण्डूकण्डूयनोपमम् ॥ ४ ॥

(१) महापु० ११-१८५ (२) महापु० ११-१७६ (३) महापु० ११-१७५ (४) महापु० ११-१७४

प्रारंभ में अच्छे मालूम होने वाले यह विषय जहर के समान दारुण (भयंकर) है। उनसे उत्पन्न होने वाला सुख मनुष्यों के लिए ऐसा ही है जैसा खाज खुजलाने से होता है।

विषयानुभवे सौख्यं यत्पराधीनमङ्गिनाम् ।
साबाधं सान्तरं बन्धकारणं दुःखमेव तत् ॥ ५ ॥

विषयों के अनुभव से उत्पन्न होने वाला संसारी प्राणियों को जो सुख होता है वह पराधीन, बाधा सहित, बीच में कट जाने वाला और बंध का कारण है, इस लिए वह दुख ही है।

मनोनिर्वृतिमेवेह सुखं वाञ्छन्ति कोविदाः ।
तत्कुतो विषयान्धानां नित्यमायस्त-चेतसाम् ॥ ६ ॥

विद्वान लोग इस संसार में मन की शांति को ही सुख मानते हैं और उसी की वांछा करते है। इसलिए जिन का चित्त हमेशा श्रांत रहता है ऐसे विषयांधों को वह सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ?

भोगेष्वत्युत्सुकः प्रायो न च वेद हिताहितम् ।
मुक्तस्य जरसा जन्तोः मृतस्य च किमन्तरम् ॥ ७ ॥

भोगों में अत्यंत आसक्त मनुष्य प्रायः हित एवं अहित को नहीं जानता। जरा (वृद्धावस्था) से खाये हुए और मरे हुए मनुष्य में क्या अंतर है।

अत्यन्तरसिकानादौ पर्यन्ते प्राणहारिणः ।
किम्पाक-पाकविषमान् विषयान् कः कृती भजेत् ॥ ८ ॥

प्रारंभ में बहुत अच्छे मालूम होने वाले किन्तु अंत में प्राण हारक एवं किंपाक (विषफल) के समान फल देने के समय विषम विषयों को कौन बुद्धिमान सेवन करे।

---

५) महापु० ११-१७३ (६) महापु० ११-७२१ (७) महापु० ३६-८५ (८) महापु० ३६-७६

शस्त्रप्रहारदीप्ताग्निवज्राशनिमहोरगाः ।
न तथोद्वेजकाः पुंसां यथाऽमी विषयद्विषः ॥ ९ ॥

शस्त्र-प्रहार, प्रज्वलित आग, वज्र और उल्का-पात तथा बड़े बड़े सांप भी मनुष्य के लिए उस प्रकार व्याकुलता के कारण नहीं होते जिस प्रकार ये विषय रूपी वैरी।

परं विषं यदेकस्मिन् भवे हन्ति न हन्ति वा।
विषयास्तु पुनर्घ्नन्ति हन्त जन्तूननन्तशः ॥ १० ॥

जहर अच्छा है जो एक ही भव में प्राणी को मारता है या नहीं भी मार सकता है किन्तु इंद्रियों के विषय तो जीवों को अनंत बार मारते रहते हैं। यह अफसोस की बात है।

आपातमात्ररम्येषु विषवद् दुःखदायिषु ।
विषयेषु रतिः का वा दुःखोत्पादनवृत्तिषु ॥ ११ ॥

प्रारंभ में अच्छे मालूम होने वाले किन्तु जहर की तरह दुखदायी एवं दुख उत्पन्न करना ही जिनका काम है ऐसे विषयों में कैसा प्रेम ?

एतदर्थं न वाञ्छन्ति सन्तो विषयजं सुखम् ।
यदेतदध्रुवं स्तोकं सान्तरायं सदुःखकम् ॥ १२ ॥

सन्त लोग विषयों से उत्पन्न होने वाले सुख को इसीलिए नहीं चाहते कि वह अनित्य है, अल्प है, विघ्न सहित है और दुख मिश्रित है।

विषयेषु यदायत्तं दुष्प्रापेषु विनाशिषु ।
दुःखमेतद्विमूढानां सुखत्वेनावभासते ॥ १३ ॥

(९) महापु० ३६-७७ (१०) महापु० ३६-७४ (११) पद्मपु० ५-२३० (१२) पद्मपु० ८-२४६ (१३) पद्म० २९-७६

जो दुर्लभ एवं विनाशी विषयों के अधीन है वह दुख विमूढ लोगों को सुख रूप सा प्रतिभासित होता है।

निक्षिप्यते हि कामाग्नौ भोगसर्पिर्यथा यथा ।
नितरां वृद्धिमायाति तापकृत्स तथा तथा ॥ १४ ॥

काम रूप आग में भोग रूपी घी जैसे २ डाला जाता है वैसे वैसे वह आग अधिक बढती जाती है और प्राणी के संताप का कारण बनती है।

आपातरमणीयानि सुखानि विषयादयः ।
किंपाकफल–तुल्यानि चित्रं प्रार्थयते जनः ॥ १५ ॥

विषयों से उत्पन्न होने वाले सुख प्रारंभ में मनोहर किन्तु किंपाक फल के समान हैं। आश्चर्य है कि मनुष्य इनकी कामना करता है !

प्रधानं दिवसाधीशः सर्वेषां ज्योतिषां यथा ।
तथा समस्तरोगाणां मदनो मूर्ध्नि वर्तते ॥ १६ ॥

जैसे सब ज्योतिषियों (ग्रह, तारा, नक्षत्र और चांद) में सूरज प्रधान है वैसे ही सब रोगों में काम रोग सबके माथे पर रहता है अर्थात् मुख्य है।

आरंभे तापकान्प्राप्तानतृप्तिप्रतिपादकान् ।
अंते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः ॥ १७ ॥

नहीं मिलने पर संताप देने वाले और मिल जाने पर अतृप्ति पैदा करने वाले तथा अंत में जिनका छोड़ना बहुत मुश्किल है ऐसे भोगों का कौन बुद्धिमान सेवन करे ?

आदावत्यभ्युदया मध्ये शृङ्गारहास्यदीप्तरसाः ।
निकषे विषया बीभत्सकरुणलज्जा–भयप्रायाः ॥ १८ ॥

---

(१४) पद्मपु० ३१-१४० (१५) पद्मपु० २६-७७ (१६) पद्मपु० १२-३४ (१७) इष्टो० १७
(१८) प्रशम० १०६

संसार के विषय सुख प्रारंभ में अभ्युदय, बीच में शृंगार, हास्य आदि रसों की समता रखने वाले और अंत में बीभत्स (घृणा) करुणा, लज्जा और भय के समान मालूम होने लगते हैं।

यद्यपि निषेव्यमाणा मनसः परितुष्टिकारका विषयाः।
किंपाक-फलादनवद्भवन्ति पश्चाददितुरन्ताः॥ १९॥

यद्यपि संसार के विषय जब उनका सेवन किया जाता है तब मन के परितोष (तृप्ति) के कारण बन जाते हैं। किन्तु अंत में विष फल के भक्षण के समान अत्यंत दुख कारक होते हैं।

भोगसुखैः किमनित्यैर्भयबहुलैः कांक्षितैः परायत्तैः।
नित्यमभयमात्मस्थं प्रशमसुखं तत्र यतितव्यम्॥ २०॥

अनित्य, भय से भरे हुए एवं पराधीन फिर भी मनुष्य के द्वारा चाहे हुए भोग सुखों से क्या लाभ है? इनसे विपरीत प्रशम सुख (आत्मा के क्रोधादि विकारों के दबने से उत्पन्न हुआ आत्मिक सुख) नित्य, भय-रहित और स्वाधीन है।

विषयैर्विप्रलब्धोऽयम् अधीरतिधनायति।
धनायायासितो जन्तुः क्लेशानाप्नोति दुस्सहान्॥ २१॥

इंद्रियों के विषयों से ठगा गया हुआ यह मूर्ख मनुष्य अत्यंत धन की इच्छा करता है। और धन के लिए परिश्रम करता हुआ यह जंतु दुःसह क्लेशों को प्राप्त होता है।

---

(१९) प्रशम० १०७ (२०) प्रशम० १२२ (२१) महापु० ११-२०५

सप्तम अध्याय

वैराग्य का कायाकल्प

[विषय भोगों की मृग-मरीचिका के विचार के बाद ही मनुष्य में वैराग्य की ओर अग्रसर होने की उत्कंठा उत्पन्न होती है। यदि ऐसा न हो तो वैराग्य की बात व्यर्थ है। इस अध्याय में वैराग्य को पोषण देने वाले शरीर आदि की अनित्यता के प्ररूपक कुछ उपयोगी पद्यों का संग्रह है।]

वृत्त्यर्थं कर्म यथा तदेव लोकः पुनः पुनः कुरुते।
एवं विरागवार्ताहेतुरपि पुनः पुनश्चिन्त्यः॥ १॥

जैसे दुनियां के लोग आजीविका के लिए उसी काम को बार २ करते हैं इसी प्रकार वैराग्य की उत्पत्ति का कारण जो हेतु है वह भी बार २ विचार करने के योग्य है।

दृढतामुपैति वैराग्यभावना येन येन भावेन।
तस्मिंस्तस्मिन् कार्यः कायमनो-वाग्भिरभ्यासः॥ २॥

जिस जिस भाव से वैराग्य भावना दृढता को प्राप्त होती है उस उस भाव के लिए मन-वचन और काय से अभ्यास करना चाहिए।

क्षणविपरिणामधर्मा मर्त्यानामृद्धिसमुदयाः सर्वे।
सर्वे च शोकजनकाः संयोगा विप्रयोगान्ताः॥ ३॥

मनुष्य के सारे समृद्धि-समुदय क्षणिक एवं परिवर्तनशील हैं इसी तरह सारे संयोग वियोगवाले तथा शोक-जनक हैं।

इष्टजनसंप्रयोगर्द्धिविषयसुखसम्पदस्तथारोग्यम्।
देहश्च यौवनं वा जीवितञ्च, सर्वाण्यनित्यानि॥ ४॥

---

(१) प्रशम० १५ (२) प्रशम० १६ (३) प्रशम० १२१ (४) प्रशम० १५१

इष्टजनों का संयोग, समृद्धि, विषयों का सुख, सम्पदा, नीरोगता, देह, यौवन और जीवन ये सभी अनित्य हैं।

यौवनं च शरीरं च, संपच्च व्येति नाद्भुतम्।
जलबुद्बुदनित्यत्वे चित्रीया नहि तत्क्षये ॥ ५ ॥

यौवन, शरीर और संपदा इनका नाश जरूर होता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। ठीक ही है जल के बुद्बुदे के नित्य होने में आश्चर्य है, उसके क्षय में नहीं।

तडिदुन्मिषिता लोला लक्ष्मीराकालिकं सुखम्।
इमाः स्वप्नर्द्धिदेशीया विनश्वर्यो धनर्द्धयः ॥ ६ ॥

बिजली के उन्मेष के समान चंचल लक्ष्मी क्षणिक सुख का कारण है। यह सब धन संपदा स्वप्न में दिखनेवाली ऋद्धि के समान विनश्वर है।

जलबुद्बुदनिस्सारं कष्टमेतच्छरीरकम्।
सन्ध्याप्रकाशसंकाशं, यौवनं बहुविभ्रमम् ॥ ७ ॥

यह तुच्छ शरीर जल के बुद्बुदे के समान साररहित एवं कष्ट का कारण है और यह यौवन अनेक विभ्रमों को पैदा करने वाला तथा संध्याकाल के प्रकाश के समान है।

वपुरारोग्यमैश्वर्यं यौवनं सुखसम्पदः।
वस्तुवाहनमन्यच्च, सुरचापवदस्थिरम् ॥ ८ ॥

शरीर, आरोग्य, ऐश्वर्य, यौवन, सुख-संपदा और वाहन या अन्य कोई भी वस्तु इन्द्र धनुष की तरह अस्थिर है।

तृणाग्रलग्नवार्बिन्दुः विनिपातोन्मुखो यथा।
तथा प्राणभृतामायुर्विलासो विनिपातुकः ॥ ९ ॥

---

(५) क्षत्र० १-५९ (६) महापु० ८-६८ (७) पद्मपु० २१-७३ (८) महापु० ८-७०
(९) महापु० ८-७१

तृण के अग्रभाग में लगी हुई जल की बिन्दु जैसे गिरने ही वाली होती है वैसे ही शरीरधारियों की आयु भी पतनोन्मुख ही होती है।

यदद्याढ्यतरं तृप्तं श्वस्तदाढ्यचरं भवेत्।

यच्चाद्य व्यसनैर्भुक्तं तत्कुलं श्वोवसीयसम् ॥१०॥

जो आज धनी और तृप्त है वह कल भूतपूर्व धनी (निर्धन) बन जाता है और जो कुछ आज दुखों से पीड़ित है वह कल सुखी हो जाता है।

सुखं दुःखानुबन्धीदं सदा सनिधनं धनम्।

संयोगा विप्रयोगान्ता विपदन्ताश्च सम्पदः ॥११॥

कोई भी सुख ऐसा नहीं हो सकता जिसके पीछे दुख न लगा हो और कोई भी धन ऐसा नही होता जिसके पीछे निर्धनता न लगी हो। कोई संयोग ऐसा नहीं है जिसके पीछे वियोग न लगा हो और कोई भी संपदा ऐसी नही होती जिसके पीछे विपदा न हो।

एक–द्रुमे निशि वसन्ति यथा शकुन्ता,

प्रातः प्रयान्ति सहसा सकलासु दिक्षु।

स्थित्वा कुले बत तथाऽन्यकुलानि मृत्वा,

लोकाः श्रयन्ति विदुषा खलु शोच्यते कः ॥१२॥

जैसे पक्षी रात के समय एक वृक्ष पर आकर ठहरते हैं और प्रातः अकस्मात् विभिन्न दिशाओं में चले जाते हैं, ऐसे ही अफसोस है कि मनुष्य किसी कुल में जन्म लेते है और फिर मर कर दूसरे कुल में उत्पन्न हो जाते हैं। संसार में ऐसा ही होता है, इसमें विद्वान् को शोक नहीं करना चाहिए।

आकाश एव शशिसूर्यमरुत्खगाद्या,

भूपृष्ठ एव शकट–प्रमुखाश्चरन्ति।

---

(१०) महापु० ८–७६ (११) महापु० ८–७७ (१२) पद्मनंदि० १६

मीनादयश्च जल एव यमस्तु याति,

सर्वत्र कुत्र भविनां भवति प्रयत्नः ॥१३॥

चंद्रमा, सूरज और हवा आदि आकाश में ही रहते हैं, गाडी वगैरह केवल पृथ्वी के पृष्ठ पर चलते हैं और मछलिएं आदि जल में रहती हैं, किन्तु मृत्यु तो सब जगह है। अतः उससे बचने का प्रयत्न व्यर्थ है।

त्वमेव कर्मणां कर्त्ता, भोक्ता च फलसन्ततेः।

मोक्ता च तात ! किं मुक्तौ, स्वाधीनायां न चेष्टसे ॥१४॥

हे भाई ! तू ही कर्मों का कर्त्ता, तू ही उनके फलों का भोक्ता तथा तू ही उनसे छुटकारा पाने वाला भी है। जब यह बात है तब तू अपने ही अधीन मुक्ति में क्यों विश्वास नहीं करता ?

पुत्रमित्रकलत्राद्य--मन्यदप्यन्तरालजम्।

नानुयायीति नाश्चर्यं, नन्वङ्गं सहजं तथा ॥१५॥

पुत्र, मित्र और स्त्री आदि और भी पदार्थ जो जीव के साथ जन्म नहीं लेते और जिनका संयोग फिर होता है यदि प्राणी के साथ नहीं जाते तो इसमें आश्चर्य क्या है ? जब कि आत्मा के साथ आने वाला शरीर भी यहीं रह जाता है।

कृत्वापि हि चिरं सङ्गं धने कान्तासु बन्धुषु।

एकाकिनैव कर्त्तव्यं संसारे परिवर्तनम् ॥१६॥

चिरकाल तक धन, स्त्रियों और बंधुओं की संगति में रहकर भी अंत में एकाकी ही इस जीव को यहां से जाना होगा।

जीवितं वनितामिष्टं पितरं मातरं धनम्।

भ्रातरं च परित्यज्य याति जीवोऽयमेककः ॥१७॥

---

(१३) पद्मनंदि० ३१ (१४) क्षत्र. ११-४५ (१५) क्षत्र. ११-४४ (१६) पद्मपु० ५-२३१
(१७) पद्मपु० १४५-११

यह जीव अपने प्रिय जीवन, वनिता, पिता, माता, धन और भाई इन सब को छोड़कर अकेला ही यहां से जाता है।

बन्धवो हि श्मशानान्ता गृह एवार्जितं धनम् ।
भस्मने गात्रमेकं त्वां धर्म एव न मुञ्चति ॥१८॥

बंधु बांधव श्मशान तक जाते है और इकट्ठा किया हुआ धन भी घर में ही रह जाता है। शरीर भी केवल भस्म होने के लिए है। किन्तु एकेला धर्म ही ऐसा है जो जीव को नहीं छोड़ता।

शनैर्विहास्यन्ति गतश्रियं न मां, न बान्धवा बद्धधनर्द्धिबुद्धयः ॥
फलप्रसूनप्रलये हि कोकिला, भवन्ति चूतावनिजं जिहासवः ।१६।

यह बात नही है कि जिन्होंने धन संपदा में बुद्धि बांध रखी है ऐसे भाई बंधु लक्ष्मी के चले जाने पर मुझे नहीं छोड देंगे। क्योंकि फल और फूलों के नष्ट हो जाने पर कोयलें आम्रवृक्ष को छोडने की अवश्य ही इच्छा करने लगती हैं।

इदं करोम्यद्य परेद्विनोष्विदं परार्यदश्च विधेयमित्ययम् ।
अनेककर्त्तव्यशताकुलःपुमान्न मृत्युमासन्नमपीक्षितुं क्षमः ॥२०॥

यह काम मैं आज करता हूँ, यह काम उससे आगे के दिन करूंगा और यह काम उससे भी आगे के दिन करना है। इस प्रकार अनेक सैकड़ों कर्तव्यों से आकुल यह मनुष्य अपने बिलकुल नजदीक रहने वाली भी मौत को देखने में समर्थ नहीं है।

दृश्यते बन्धुमध्यस्थः पित्राप्यालिङ्गितो धनी ।
म्रियमाणोऽति शूरश्च कोऽन्यः शक्तोऽभिरक्षितुम् ॥२१॥

बंधुओं के मध्य में स्थित, पिता के द्वारा आलिंगित, धनी अथवा अत्यंत बहादुर मनुष्य भी मरता हुआ देखा जाता है; तब किसी दूसरे को कैसे बचाया जा सकता है?

---

(१८) क्षत्र० ११-४३ (१६) चन्द्रप्रभ० ११-१७ (२०) चन्द्रप्रभ० ११-१२
(२१) पद्मपु० ५६-२८

आयुधीयैरतिस्निग्धैर्बन्धुभिश्चाभिसंवृतः ।

जन्तुः संरक्ष्यमाणोपि पश्यतामेव नश्यति ॥२२॥

आयुधों का प्रयोग करने वाले बहादुरों एवं अत्यंत प्रेमी बंधुओं के द्वारा अच्छी तरह रक्षा किया गया हुआ भी यह जीव लोगों के देखते २ ही नष्ट हो जाता है ।

उद्धर्तुं धरणीं शक्ता, ग्रसितुं चन्द्रभास्करौ ।

प्रविष्टास्तेऽपि कालेन कृतान्तवदनं नराः ॥२३॥

जो पृथ्वी को उठालेने में समर्थ थे तथा जो चंद्रमा एवं सूरज को ग्रसलेने का सामर्थ्य रखते थे वे भी समय पाकर मृत्यु के मुंह में प्रविष्ट होगये ।

नास्ति कश्चिन्नरो लोके यो व्रजेदुपमानताम् ।

यथायममरस्तद्वद्वयं मृत्यूज्झिता इति ॥२४॥

दुनियां में कोई भी मनुष्य नहीं है जो इस प्रकार उपमान बन जाय कि जैसे यह मनुष्य अमर है वैसे हम भी अमर हैं, हमें भी मृत्यु ने छोड दिया है ।

अङ्गसादं मतिभ्रंशं वाचामस्फुटतामपि ।

जरा सुरा च निर्विष्टा घटयत्याशु देहिनाम् ॥२५॥

शरीरधारियों के लिए वृद्धावस्था शराब की तरह शरीर की कृशता, बुद्धि का विनाश और वाणी की अस्फुटता कारण बन जाती है ।

मेध्यानामापि वस्तूनां यत्संपर्कादमेध्यता ।

तद्गात्रमशुचीत्येतत्किं नात्ममलसंभवम् ॥२६॥

जिसके संपर्क से पवित्र वस्तुएं भी अपवित्र हो जाती हैं ऐसा अपने ही मल से उत्पन्न होने वाला शरीर क्या अपवित्र नहीं है ?

---

(२२) क्षत्र० ११-३४ (२३) पद्मपु० ५-२७३ (२४) पद्मपु० ५-२७१
(२५) महापु० ३६-८७ (२६) क्षत्र० ११-५०

अस्पष्टं दृष्टमङ्गं हि सामर्थ्यात्कर्मशिल्पिनः ।

रम्यमूहे किमन्यस्स्यान्मलमांसास्थिमज्जतः ॥२७॥

कर्म रूप कारीगर के सामर्थ्य से जब तक शरीर स्पष्ट रूप से नहीं देखा जाता तबतक ही मनोहर मालूम होता है । विचार करने पर तो मल, मांस, हड्डी और मज्जा के अतिरिक्त यह है ही क्या ?

दैवादन्तः स्वरूपं चेद्बहिर्देहस्य किं परैः ।

आस्तामनुभवेच्छेयमात्मन्को नाम पश्यति ॥२८॥

यदि शरीर का अन्तःस्वरूप दैवयोग से बाहर आजावे तो और क्या कहें, अनुभव करने की इच्छा को तो रहने दो, उसे देखे भी कौन ?

गदेन मुक्तोऽशनिना कटाक्ष्यते तदुज्झितः शस्त्रविषाग्निकण्टकैः ।
अनेक मृत्युद्रवसंकटे नरः कियद्वराकश्चिरमेष जीवति ॥२९॥

यह बेचारा संसारी जीव संसार में चिरकाल तक कैसे जीवित रह सकता है जब कि किसी न किसी बहाने से मौत उसे आघेरती है । अगर रोग से मुक्त हो गया तो वज्रपात गिर गया, अगर उससे भी बच गया तो शस्त्र, जहर, आग और कंटक से भी उसकी मौत होसकती है ।

मनुष्य भव की श्रेष्ठता

राजा श्रेष्ठो मनुष्याणां मृगानां केसरी यथा ।

पक्षिणां विनतापुत्रः भवानां मानुषो भवः ॥३०॥

मनुष्यों में राजा, पशुओं में सिंह, पक्षियों में गरुड और भवों में मनुष्य भव श्रेष्ठ है ।

सारस्त्रिभुवने धर्मः सर्वेन्द्रियसुखप्रदः ।

क्रियते मानुषे देहे ततो मनुजता परा ॥३१॥

---

(२७) क्षत्र० ११-५१ (२८) क्षत्र० ११-२२ (२९) चन्द्र प्रभ० ११-११
(३०) पद्मपु० १४-१५४ (३१) पद्म० १४-१५५

तीन भवन में श्रेष्ठ और सब इंद्रियों को सुख देने वाला ऐसा धर्म मनुष्य शरीर में ही किया जाता है अतः मनुष्य जन्म ही श्रेष्ठ है।

तृणानां शालयः श्रेष्ठाः पादपानां च चन्दनाः।
उपलानां च रत्नानि भवानां मानुषो भवः ॥३२॥

तृणों में शाली, वृक्षों में चन्दन, पत्थरों में रत्न और भवों में मनुष्य भव श्रेष्ठ है।

पतितं तन्मनुष्यत्वं पुनर्दुर्लभसङ्गमम्।
समुद्रसलिले नष्टं यथा रत्नं महागुणम् ॥३३॥

एक बार नष्ट हो जाने के बाद फिर मनुष्य जन्म का मिलना दुर्लभ है। जिस प्रकार कि समुद्र के जल में गिरा हुआ महा गुणवाला रत्न।

तदात्मन्दुर्लभं गात्रं धर्मार्थं मूढ ! कल्प्यताम्।
भस्मने दहतो रत्नं मूढः कः स्यात्परो जनः ॥३४॥

हे मूढ ! इस दुर्लभ मानव शरीर को धर्म के लिए उपयोग करो। भस्म के लिए रत्न को जलाने वाले से अधिक कौन मूढ होगा ? इसका विषय सेवन के लिए उपयोग करना भस्म के लिए रत्न जलाने के समान ही है।

आस्तां भवान्तरविधौ सुविपर्ययोऽयं
अत्रैव जन्मनि नृणामधरोच्चभावः।
अल्पः पृथुः पृथुरपि क्षणतोऽल्पएव
स्वामी भवत्यनुचरः स च तत्पदार्हः ॥३५॥

दूसरे जन्म में जो विपरीत परिवर्तन होता है उसे तो रहने दो। ध्यान देने की बात तो यह है कि इसी जन्म में मनुष्य का उत्थान और पतन होता रहता है।

(३२) पद्मपु० १४-१५६ (३३) पद्मपु० १४-१५१ (३४) क्षत्र० ११-७६
(३५) यशस्ति० २-११७

जो छोटा है वह बड़ा हो जाता है, जो बड़ा है वह छोटा हो जाता है। स्वामी अनुचर हो जाता है और अनुचर स्वामी हो जाता है।

देवाद्धनेष्वधिगतेषु पटुर्न कायः
काये पटौ न पुनरायुरवाप्तवित्तम्।
इत्थं परस्परहतात्मभिरात्मधर्मै—
र्लोकं सुदुःखयति जन्मकरः प्रबन्धः ॥३६॥

दैव से धन की प्राप्ति हो जाने पर भी शरीर अच्छा नहीं रहता और शरीर अच्छा मिल जाने पर भी दीर्घायु प्राप्त नहीं होती, चाहे धन की प्राप्ति हो जाय। ये सब परस्पर एक दूसरे को परास्त करके रहते हैं। सही तो यह है कि यह बार बार जन्म देने वाला कर्मों का प्रबंध ही इस लोक को दुखित करता है।

कर्मार्पितं क्रमगतिः पुरुषः शरीरम्
एकं त्यजत्यपरमा भज ते भवाब्धौ।
शैलूषयोषिदिव संसृतिरेनमेषा
नाना विडम्बयति चित्रकरैः प्रपञ्चैः ॥३७॥

यह जीव कर्मों के द्वारा प्रदत्त एक शरीर को छोड़ता है और दूसरे को ग्रहण करता है। इस संसार समुद्र में यही क्रम है। नाटक की नटी की तरह यह संसृति (संसार) इस जीव को नाना आश्चर्यकारी प्रपंचों से विडम्बना में डाल देता है।

---

(३६) यशस्ति० २-११६ (३७) यशस्ति० २-११५

अष्टम अध्याय

इन्द्रिय मनोविजय

[वैराग्य के कायाकल्प के अनन्तर यह आवश्यक है कि वैराग्य को स्थिर रखने के लिए इन्द्रिय और मन पर विजय प्राप्त किया जाय अन्यथा वैराग्य कभी स्थिर नहीं रह सकता। वैराग्य को स्थिर रखने के लिए क्रोधादि कषायों पर विजय पाना भी आवश्यक है। और इसके लिए जरूरी है कि पहले इन्द्रियों और मन को वश में किया जाय। इस अध्याय में इन्द्रिय-मनो-विजय के महत्वपूर्ण पद्यों का संकलन है]

अजिताक्षः कषायाग्निं विनेतुं न प्रभुर्भवेत्।
अतः क्रोधादिकं जेतुमक्षरोधः प्रशस्यते ॥ १ ॥

जिसने अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं किया है वह कषायरूप आग को बुझाने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए क्रोधादि कषायों को जीतने के लिए इन्द्रियों पर विजय पाना आवश्यक है।

विषयाशाभिभूतस्य विक्रियन्तेऽक्षदन्तिनः।
पुनस्त एव दृश्यन्ते क्रोधादिगहनं श्रिताः ॥ २ ॥

जो विषयों की आशा से अभिभूत है उसके इन्द्रियरूपी हाथी विकार को प्राप्त होजाते हैं और वे ही फिर क्रोधादि कषाय रूप जंगल को आश्रित हुए देखे जाते हैं।

इदमक्षकुलं धत्ते मदोद्रेकं यथा यथा।
कषायदहनः पुंसां विसर्पति तथा तथा ॥ ३ ॥

यह इन्द्रियों का समूह ज्यों ज्यों उन्मत्त होता है त्यों त्यों मनुष्यों की कषायों की आग फैलती जाती है।

---

(१) ज्ञाना० २०-१, (२) ज्ञाना० २०-२, (३) ज्ञाना० २०-३

यदक्षविषयोद्भूतं दुःखमेव न तत्सुखम् ।
अनन्तजन्मसन्तान–क्लेश–सम्पादकं यतः ॥ ४ ॥

जो इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न होता है वह दुख ही है, सुख नहीं । क्योंकि वह अनन्त जन्मों की परम्परा तक क्लेश को उत्पन्न करने वाला है ।

दुर्दमेन्द्रियमातङ्गान्शीलशाले नियन्त्रय ।
धीर विज्ञानपाशेन विकुर्वन्तो यदृच्छया ॥ ५ ॥

इच्छानुसार बिकार करते हुए ऐसे दुर्दम इन्द्रियरूपी हाथियों को हे धीर ! विज्ञान रूपी पाश से शील रूपी शाला में बांधलो ।

यथा यथा हृषीकाणि स्ववश यान्ति देहिनाम् ।
तथा तथा स्फुरत्युच्चैर्हृदि विज्ञानभास्करः ॥ ६ ॥

जैसे जैसे देह धारियों की इन्द्रियां अपने बश में होती जाती हैं, वैसे-वैसे उनके हृदय में विज्ञान का सूरज स्फुरित होता जाता है ।

दुःखमेवाक्षजं सौख्यमविद्याव्याललालितम् ।
मूर्खास्तत्रैव रज्यन्ते न विद्मः केन हेतुना ॥ ७ ॥

अविद्या रूपी सांप के द्वारा पाला हुआ इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला सुख वास्तव में दुख ही है । फिर भी हम नहीं जानते कि मूर्ख किस कारण से उनमें अनुरक्त होजाते है ?

हृषीकतस्करानीकं चित्तदुर्गान्तराश्रितम् ।
पुंसां विवेकमाणिक्यं हरत्येवानिवारितम् ॥ ८ ॥

चित रूपी किले के भीतर आश्रय पाया हुआ इन्द्रिय रूपी सैन्य मनुष्यों के विवेक रूपी माणिक्य को अवश्य ही हरण कर लेता है ।

(४) ज्ञाना० २०–५ (५) ज्ञाना० २०–६ (६) ज्ञाना० २०–११ (७) ज्ञाना० २०–१० (८) ज्ञाना० २०–२६

संवृणोत्यक्षसैन्यं यः कूर्मोऽङ्गानीव संयमी ।
स लोके दोषपङ्काढ्ये चरन्नपि न लिप्यते ॥ ९ ॥

कछुवा जैसे अपने अंगों को सिकोडता है इस तरह जो संयमी इन्द्रिय सेना का संवरण करता है वह दोष रूपी कीचड़ से भरे हुए लोक में चलता हुआ भी कर्मों से लिप्त नहीं होता ।

विषयेषु यथा चित्तं जन्तोर्मग्नमनाकुलम् ।
तथा यद्यात्मनस्तत्त्वे सद्यः को न शिवीभवेत् ॥१०॥

जैसे मनुष्यों का मन विषयों में अनाकुल होकर मग्न हो जाता है वैसे ही यदि वह आत्मतत्त्व में मग्न हो जाय तो कौन ऐसा है जो मोक्ष न पासके ?

अयत्नेनापि जायन्ते तस्यैता दिव्यसिद्धयः ।
विषयैर्न मनो यस्य मनागपि कलङ्कितम् ॥११॥

जिसका मन विषयों से थोड़ा भी कलंकित नहीं होता उसको बिना यत्न के ही दिव्य सिद्धियां प्राप्त हो जाती है ।

मनोरोधे भवेद्रुद्धं विश्वमेव शरीरिभिः ।
प्रायोऽसंवृतचित्तानां शेषरोधोऽप्यपार्थकः ॥१२॥

यदि शरीरधारी मनको रोकनें तो सभी बुराइयां रुक सकती हैं और यदि मनको नहीं रोका जाय तो शेष अर्थात् इन्द्रियों आदि का रोकना बिलकुल व्यर्थ है ।

अतस्तदेव संरुध्य कुरु स्वाधीनमञ्जसा ।
यदि छेत्तुं समुद्युक्तस्त्वं कर्मनिगडं दृढम् ॥१३॥

इसलिए यदि तू जबर्दस्त कर्म रूपी बेडी को काटने के लिए उद्यमी है तो वास्तव में मन को ही रोक कर अपने को स्वाधीन बनाओ ।

(९) ज्ञाना० २०-३७ (१०) ज्ञाना० २०-१२ (११) ज्ञाना० २०-३८ (१२) ज्ञाना० २२-६ (१३) ज्ञाना० २२-९

सम्यगस्मिन्समं नीते दोषा जन्मभ्रमोद्भवाः ।
जन्मिनां खलु शीर्यन्ते ज्ञानश्रीप्रतिबन्धकाः ॥१४॥

इस मनको अच्छी तरह समभाव रूप प्राप्त करने पर जीवों के ज्ञान रूपी लक्ष्मी के प्रतिबंधक-जन्म-भ्रमण से उत्पन्न होने वाले दोष निश्चित रूप से झड़ जाते है।

एक एव मनोदैत्यजयः सर्वार्थसिद्धिदः ।
अन्यत्र विफलः क्लेशो यमिनां तज्जयं विना ॥१५॥

अकेले मन रूपी दैत्य का विजय ही मनुष्यों को संपूर्ण प्रयोजनों की सिद्धि का देने वाला है। उसे जीते बिना योगियों के लिए भी अन्यत्र क्लेश करना व्यर्थ है।

एक एव मनोरोधः सर्वाभ्युदयसाधकः ।
यमेवालम्ब्य संप्राप्ता योगिनस्तत्त्वनिश्चयम् ॥१६॥

अकेले मन का वश में करना ही संपूर्ण अभ्युदयों का साधक है। भले ही वे लौकिक हों या आध्यात्मिक। मनोरोध का अवलंबन करके ही योगी जन तत्व निश्चय को प्राप्त हुए हैं।

पृथक्करोति यो धीरः स्वपरावेकतां गतौ ।
स चापलं निगृह्णाति पूर्वमेवान्तरात्मनः ॥१७॥

जो धीर मनुष्य एकता को प्राप्त स्व और पर को पृथक २ अनुभव करने लगता है वह सबसे पहले अतरात्मा अर्थात् मन की चंचलता को रोक लेता है।

मनः शुद्धयैव शुद्धिः स्याद्देहिनां नात्र संशयः ।
वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम् ॥१८॥

---

(१४) ज्ञाना० २२-१० (१५) ज्ञाना० २२-११ (१६) ज्ञाना० २२-१२ (१७) ज्ञाना० २२-१३
(१८) ज्ञाना० २२-१४

इसमें कोई शक नहीं है कि देहधारियों की शुद्धि मन की शुद्धि से ही है। मनः शुद्धि के विना केवल शरीर को ही पीडा देना व्यर्थ है।

ध्यानशुद्धिं मनःशुद्धिः करोत्येव न केवलम्।
विच्छिनत्त्यपि निःशङ्कं कर्मजालानि देहिनाम् ॥१९॥

मनःशुद्धि केवल ध्यानशुद्धि का ही कारण नहीं है वह निःसन्देह शरीर धारियों के कर्म समूह के विनाश का भी हेतु है।

चित्तशुद्धिमनासाद्य मोक्तुं यः सम्यगिच्छति।
मृगतृष्णातरङ्गिण्यां स पिबत्यम्बु केवलम् ॥२०॥

जो चित्त-शुद्धि को नहीं प्राप्त होकर कर्म-बंधन से मुक्त होने की इच्छा करता है वह केवल मृगमरीचिका की नदी मे जल पीना चाहता है।

तद्ध्यानं तद्धि विज्ञानं तद्ध्येयं तत्त्वमेव वा।
येनाविद्यामतिक्रम्य मनस्तत्त्वे स्थिरीभवेत् ॥२१॥

वही ध्यान है, वही विज्ञान है और वही ध्येयतत्त्व है जिसके प्रभाव से मन अविद्या को परास्त कर निजस्वरूप में स्थिर हो जाय।

विभ्रमद्विषयारण्ये चलच्चेतोवलीमुखः।
येन रुद्धो ध्रुवं सिद्धं फल तस्यैव वाञ्छितम् ॥२२॥

चंचल चितरूपी बंदर विषयरूपी जंगल में भ्रमण करता रहता है। जिस मनुष्य ने इसे रोका है उसी का अभीष्ट फल सिद्ध हुआ है।

चित्तमेकं न शक्नोति जेतुं स्वातन्त्र्यवर्ति यः।
ध्यानवार्ता ब्रुवन्मूढः स किं लोके न लज्जते ॥२३॥

(१९) ज्ञाना० २२-१५ (२०) ज्ञाना० २२-१६ (२१) ज्ञाना० २२-२० (२२) ज्ञाना० २२-२३ (२३) ज्ञाना० २२-२४

जो मनुष्य स्वच्छंद व्यापार वाले मन को जीतने मे असमर्थ है वह मूढ ध्यान की वार्ता करता हुआ दुनियां मे लज्जित क्यों नहीं होता है।

तपः श्रुतयमज्ञान–तनुक्लेशादिसंश्रयम् ।
अनियन्त्रितचित्तस्य स्यान्मुनेस्तुषखण्डनम् ।।२४।।

जिस मुनि ने अपने मन को वश में नहीं किया उसका तप, शास्त्र–पठन, व्रत-धारण, ज्ञान और काय–क्लेशादि केवल तुषों को कूटने के बराबर है।

एकैव हि मनःशुद्धिर्लोकाग्रपथदीपिका ।
स्खलितं बहुभिस्तत्र तामनासाद्य निर्मलाम् ।।२५।।

एकेली मनःशुद्धि ही लोकाग्र अर्थात् मुक्ति के मार्ग की प्रकाशिका है। निर्मल मनःशुद्धि को नहीं प्राप्त होकर ही वहां बहुत से लोग फिसले है।

असन्तोऽपि गुणाः सन्ति यस्यां सत्यां शरीरिणाम् ।
सन्तोऽपि यां विना यान्ति सा मनःशुद्धिः शस्यते ।।२६।।

जिसके होने पर शरीरधारियों के अविद्यमान गुण भी विद्यमान हो जाते हैं और जिसके नहीं होने पर विद्यमान गुण भी गायब हो जाते हैं वह मनःशुद्धि प्रशंसनीय है।

---

(२४) ज्ञाना० २२–२८ (२५) ज्ञाना० २२–२९ (२६) ज्ञाना० २२–३०

मोह द्वंद्व :—

नवम अध्याय

[इन्द्रिय और मन पर मनुष्य तभी काबू पा सकता है जब मोह द्वंद्व—राग-द्वेष—पर विजय पाले; क्योंकि रागद्वेष ही बाह्य पदार्थों में इष्ट अनिष्ट की कल्पना उत्पन्न करते है और इसी कल्पना से प्रेरित होकर इन्द्रिय और मन चंचल हो जाता हैं; अतः मोह द्वंद्व पर नियंत्रण आवश्यक है। इस अध्याय में इस विषय के कुछ उपयोगी पद्यों का संकलन है।]

परिग्रहपरिष्वङ्गाद् द्वेषो रागश्च जायते।
रागद्वेषौ च संसारे दुःखस्योत्तमकारणम् ॥ १ ॥

परिग्रह की आसक्ति से द्वेष और राग उत्पन्न होता है, इसलिए संसार में राग और द्वेष ही दुख के प्रधान कारण हैं।

रागद्वेषद्वयीदीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा।
अज्ञानात्सुचिरं जीवः ससाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥ २ ॥

अज्ञान से यह जीव रागद्वेग रूपी दही बिलोने की लंबी डोरी के आकर्षण से संसार समुद्र में चिरकाल तक घूमता रहता है।

रक्तो द्विष्टोऽथवा मूढो मन्दमध्यविपाकतः।
कुलालचक्रवत्प्राप्तचतुर्गतिविवर्तनः ॥ ३ ॥

रागी द्वेषी अथवा मोही आत्मा कर्मों के मंद और मध्यम उदय से कुंभार के चाक की तरह देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक गति में भ्रमण करता रहता है।

क्वचिन्मूढं क्वचिद्भ्रान्तं क्वचिद्भीतं क्वचिद्रतम्।
शङ्कितं च क्वचित्क्लिष्टं रागाद्यैः क्रियते मनः ॥ ४ ॥

---

(१) पद्मपु० २-१८२ (२) इष्टो० ११ (३) पद्मपु० १४-२० (४) ज्ञाना० २३-७

रागद्वेषादिकों के द्वारा प्राणी का मन कहीं-मूढ कहीं भ्रांत कहीं भीत (डरा हुआ) कहीं आसक्त, कहीं शंकित और कहीं पीड़ित कर दिया जाता है।

अजस्रं रुध्यमानेऽपि चिराभ्यासाद्दृढीकृताः ।
चरन्ति हृदि निःशंका नृणां रागादिराक्षसाः ॥ ५ ॥

चिर काल के अभ्यास से जिनकी जड़ मजबूत हो गई है ऐसे रागादि रूप राक्षस निरंतर रोके गये भी मनुष्यों के हृदय में निःशंक होकर विचरते है।

प्रयासैः फल्गुभिर्मूढ किमात्मा दण्ड्यतेऽधिकम् ।
शक्यते न हि चेच्चेतः कर्तुं रागादिवर्जितम् ॥ ६ ॥

यदि चित्त रागादि रहित नहीं बनाया जा सकता तो हे मूढ! फिर व्यर्थ के प्रयासों से आत्मा को क्यों दंडित किया जाता है ?

रागाद्यभिहतं चेतः स्वतत्त्वविमुखं भवेत् ।
ततः प्रच्यवते क्षिप्र ज्ञानरत्नाद्रिमस्तकात् ॥ ७ ॥

रागादिकों से आहत चित्त आत्म तत्त्व से विमुख हो जाता है और उसके बाद ज्ञान रूप रत्न पर्वत के मस्तक से शीघ्र ही गिर जाता है।

रागादिभिरविश्रान्तं वञ्च्यमानं मुहुर्मनः ।
न पश्यति परं ज्योतिः पुण्यपापेंधनानलम् ॥ ८ ॥

रागादिकों के द्वारा बार २ ठगा जाता हुआ यह मन पुण्य और पाप रूपी ईंधन के लिए आग के समान उस परं ज्योति को नहीं देखता।

यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रैति निश्चयः ।
उभावेतौ समालम्ब्य विक्राम्यत्यधिकं मनः ॥ ९ ॥

---

(५) ज्ञाना० २३-८ (६) ज्ञाना० २३-९ (७) ज्ञाना० २३-१४ (८) ज्ञाना० २३-१६
(९) ज्ञाना० २३-२५

जहां राग होता है वहां द्वेष भी अपने आप पहुंच जाता है। यह बिलकुल निश्चित है। मन इन दोनों (राग और द्वेष) का सहारा पकड कर अधिक पराक्रम दिखलाने लगता है।

यथोत्पाताक्षमः पक्षी लूनपक्षः प्रजायते ।
रागद्वेषच्छदच्छेदे स्वान्तपत्ररथस्तथा ॥१०॥

जैसे पक्षी पांख-कटने पर उडने में असमर्थ हो जाता है वैसे ही राग द्वेष रूपी पंख कट जाने पर मन रूपी पक्षी की अवस्था हो जाती है।

चित्तप्लवङ्गदुर्वृत्तं स हि नूनं विजेष्यति ।
यो रागद्वेषसंतानतरुमूलं निकृन्तति ॥११॥

चित्त रूपी बंदर की दुश्चेष्टाओं पर केवल वही निश्चय से विजय प्राप्त कर सकता है जो राग द्वेष की परम्परा रूप वृक्ष के मूल को काट देता है।

रागादिगहने खिन्नं मोहनिद्रावशीकृतम् ।
जगन्मिथ्याग्रहाविष्टं जन्मपङ्के निमज्जति ॥१२॥

रागादि रूप जंगल में खिन्न, मोह निद्रा से वशीकृत एवं मिथ्यात्व रूपी ग्रह से आविष्ट यह जगत जन्म रूपी कीचड में डूबता है।

---

(१०) ज्ञाना० २३-२७ (११) ज्ञाना० २३-२८ (१२) ज्ञाना० २३-३१

साम्य भाव :— **दसवां अध्याय**

[मोह द्वंद्व पर काबू पा लाने के बाद ही आत्मा साम्यभाव की प्राप्ति के योग्य होता है। राग द्वेष से उत्पन्न होने वाली इष्ट अनिष्ट कल्पनाओं का पैदा न होना ही साम्यभाव कहलाता है। इस अध्याय में साम्यभाव के प्रेरक कुछ पावन पद्यों का संग्रह है]

चिदचिल्लक्षणैर्भावैरिष्टानिष्टतया स्थितैः ।
न मुह्यति मनो यस्य तस्य साम्ये स्थितिर्भवेत् ॥ १ ॥

जिसका मन चेतन और अचेतन पदार्थों में इष्ट और अनिष्ट कल्पना से उपस्थित होने वाले भावों के द्वारा मोहित नहीं होता उसी की साम्यभाव में स्थिति हो सकती है।

तनुत्रयविनिर्मुक्तं दोषत्रयविवर्जितम् ।
यदा वेत्त्यात्मनात्मानं तदा साम्ये स्थितिर्भवेत् ॥ २ ॥

जब यह आत्मा औदारिक, तैजस और कार्माण इन तीन शरीरों एवं राग द्वेष और मोह इन तीन दोषों से रहित अपने ही द्वारा अपने को जानता है तभी उसको साम्यभाव में स्थिति हो सकती है।

यः स्वभावोत्थितां साध्वीं विशुद्धिं स्वस्य वाञ्छति ।
स धारयति पुण्यात्मा समत्वाधिष्ठितं मनः ॥ ३ ॥

जो मनुष्य स्वभाव से उत्पन्न अत एव सर्व श्रेष्ठ आत्म-विशुद्धि को चाहता है वह पवित्रात्मा अपने मन को समत्व पर अधिष्ठित कर सकता है।

अशेषपरपर्यायैरन्यद्रव्यैर्विलक्षणम् ।
निश्चिनोति यदात्मानं तदा साम्यं प्रसूयते ॥ ४ ॥

---

(१) ज्ञाना० २४-२ (२) ज्ञाना० २४-१६ (३) ज्ञाना० २४-१५ (४) ज्ञाना० २४-१७

जब मनुष्य संपूर्ण पर पदार्थों की पर्यायों से एवं संपूर्ण अन्य द्रव्यों से विलक्षण स्वरूप वाले आत्मा का निश्चय करता है तभी उसके साम्य की उत्पत्ति होती है।

साम्यवारिणि शुद्धानां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम् ।
इहैवानन्तबोधादिराज्यलक्ष्मीः सखी भवेत् ॥ ५ ॥

साम्य रूपी जल में नहा कर जो शुद्ध होगये हैं ऐसे एक मात्र ज्ञान रूपी नेत्र वाले श्रेष्ठ पुरुषों को इसी लोक में अनंत ज्ञानादि राज्य लक्ष्मी सखी बनजाती है।

रागादिविपिनं भीमं मोहशार्दूलपालितम् ।
दग्धं मुनिमहावीरैः साम्यधूमध्वजार्चिषा ॥ ६ ॥

मोह रूपी व्याघ्र जिसकी रक्षा कर रहा है ऐसे भयंकर रागद्वेषादिकों के जंगल को साम्य भाव रूप आग के द्वारा बहादुर मुनिजन अवश्य जला देते हैं।

आशाः सद्यः विपद्यन्ते यान्त्यविद्याः क्षयं क्षणात् ।
म्रियते चित्तभोगीन्द्रो यस्य सा साम्यभावना ॥ ७ ॥

जिसके आत्मा में वह साम्य भावना होती है उसी की आशाएं शीघ्र विनाश को प्राप्त होती है। वही अपनी अविद्याओं को क्षण भर में क्षय कर डालता है और उसी का चित्त रूपी नागराज मृत्यु को प्राप्त होता है।

साम्यकोटिं समारूढो यमी जयति कर्म यत् ।
निमिषान्तेन तज्जन्मकोटिभिस्तपसेतरः ॥ ८ ॥

साम्य शिखर पर चढा हुआ यमी (योगी) जिस कर्म (आत्मा विकार) को टिमकार मात्र से जीत लेता है उसे दूसरा करोड़ों जन्मों के तप से ही जीत सकता है।

---

(५) ज्ञाना० २४-७ (६) ज्ञाना० २४-६ (७) ज्ञाना० २४-११ (८) ज्ञाना० २४-१२

साम्यभावितभावानां स्यात्सुखं यन्मनीषिणाम् ।
तन्मन्ये ज्ञानसाम्राज्यसमत्वमवलम्बते ॥ ९ ॥

जिनकी भावनाओं का साम्य भाव से संस्कार होचुका है ऐसे मनीषियों को जो सुख उत्पन्न होता है वह सुख उस सुख के समान है जो केवल ज्ञान के साम्राज्य के प्राप्त होने के बाद मिलता है—ऐसा मैं मानता हूँ।

शाम्यन्ति जन्तवः क्रूरा बद्धवैराः परस्परम् ।
अपि स्वार्थे प्रवृत्तस्य मुनेः साम्यप्रभावतः ॥१०॥

अपने में ही प्रवृत्ति करने वाले साधु के साम्य के प्रभाव से परस्पर वैरको बांधे हुए क्रूर जंतु सिंह आदि भी शांत हो जाते हैं।

शाम्यन्ति योगिभिः क्रूरा जन्तवो नेति शङ्क्यते ।
दावदीप्तमिवारण्यं यथा वृष्टैर्वलाहकैः ॥११॥

योगियों का सांनिध्य पाकर हिंसक निर्दय जंतु शान्त होंगे या नहीं, यह शंका करने की जरूरत नहीं है। यह शंका ऐसी ही है जैसी वनाग्नि से प्रदीप्त जंगल बरसते हुए मेघों से शांत होगा या नहीं ? यह शंका है।

भावयस्व तथात्मानं समत्वेनातिनिर्भरम् ।
न यथा द्वेषरागाभ्यां गृह्णात्यर्थकदम्बकम् ॥१२॥

समत्व के द्वारा आत्मा का इस तरह डट कर अभ्यास करो कि जिससे राग-द्वेष के अधीन होकर यह आत्मा पर पदार्थों को ग्रहण नहीं करे।

चलत्यचलमालेयं कदाचिद्दैवयोगतः ।
नोपसर्गैरपि स्वान्तं मुनेः साम्यप्रतिष्ठितम् ॥१३॥

---

(९) ज्ञाना० २४-१४ (१०) ज्ञाना० २४-२० (११) ज्ञाना० २४-२२ (१२) ज्ञाना० २४-८ (१३) ज्ञाना० २४-३०

कदाचित् दैव योग हो तो पर्वतों की माला भी चलायमान हो सकती है किन्तु साम्य में प्रतिष्ठित साधु का मन उपसर्गों से कभी चलायमान नहीं हो सकता।

श्रियं त्यजन् जडः शोकं विस्मयं सात्त्विकः स ताम् ।
करोति तत्त्वविच्चित्रं न शोकं च न विस्मयम् ॥१४॥

लक्ष्मी को छोडते हुए मूर्ख मनुष्य को शोक होता है, सात्विक मनुष्य उसे छोडते हुए आश्चर्य करता है। किन्तु तत्वज्ञानी ऐसा करता हुआ न कभी शोक करता है और न विस्मय।

मोहवह्निमपाकर्त्तुं स्वीकर्त्तुं संयमश्रियम् ।
छेत्तुं रागद्रुमोद्यानं समत्वमवलम्ब्यताम् ॥१५॥

मोह की आग को बुझाने के लिए एवं संयम लक्ष्मी को स्वीकार करने के प्रयोजन से तथा राग रूप वृक्षों के बगीचे का छेदन करने हेतु [illegible] का अवलंबन करो।

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।
समत्वं भज सर्वज्ञज्ञानलक्ष्मीकुलास्पदम् ॥१६॥

हे मनुष्य! काम भोगों में विरक्त होने के साथ २ शरीर में आसक्ति को छोड कर समत्व को धारण कर। यह समत्व ही सर्वज्ञ को ज्ञान लक्ष्मी के कुल का प्राप्ति-स्थान है।

मोहपङ्के परिक्षीणे शीर्णे रागादिबन्धने ।
नृणां हृदि पदं धत्ते साम्यश्रीर्विश्ववन्दिता ॥१७॥

जगत बंदनीय साम्य लक्ष्मी तभी मनुष्यों के हृदय में स्थान पा सकती है जब मोह का कीचड सूख जाय और रागद्वेषादि का बंधन ढीला पड जाय।

---

(१४) आत्मानु० १०४ (१५) ज्ञाना० २४-१ (१६) ज्ञाना० २४-३ (१७) ज्ञाना०२४-१०

तस्यैवाविचलं सौख्यं तस्यैव पदमव्ययम् ।
तस्यैव बन्धविश्लेषः समत्वं यस्य योगिनः ॥१८॥

जिस योगी के मन में समत्व होता है उसे ही अविचल सुख प्राप्त होता है, उसे ही अव्यय पद की उपलब्धि होती है और उसी के बंध का विश्लेष (अलग होना) है।

उन्मत्तमथ विभ्रान्तं दिग्मूढं सुप्तमेव वा ।
साम्यस्थस्य जगत्सर्वं योगिनः प्रतिभासते ॥१९॥

साम्य स्थित योगी को यह सारा जगत उन्मत्त जैसा, विभ्रान्त जैसा, दिग्मूढ़ जैसा और सुप्त जैसा प्रतिभासित होता है।

वाचस्पतिरपि ब्रूते यद्यजस्रं समाहितः ।
वक्तुं तथापि शक्नोति न हि साम्यस्य वैभवम् ॥२०॥

साम्य के वैभव को सावधान होकर यदि निरंतर बृहस्पति भी कहता रहे तो वह भी इसे संपूर्ण रूप से नहीं कह सकता।

---

(१८) ज्ञाना० २४-१८ (१९) ज्ञाना० २४-३१ (२०) ज्ञाना० २४-३२

साधु का कर्त्तव्यः

एकादश अध्याय

[साधु वह है जो स्व और पर हित में सदा प्रयत्नशील तथा ध्यान, स्वाध्याय एवं परमेश्वरोपासना आदि में ही वह निरंतर संलग्न रहता है। जीवन को साम्य भाव के अनुकूल बनाने के लिए साधु को अपने कर्त्तव्य की ओर सतर्क रहने की अत्यंत आवश्यकता है। अतः साम्यभाव के अनंतर इस अध्याय में साधु कर्त्तव्य विषयक पद्यों का संग्रह किया गया है।]

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ॥ १ ॥

तपस्वी (साधु) वह है जो विषयों की आशा के वश में न हो, आरंभ और परिग्रह रहित एवं ज्ञान, ध्यान (चिंतन) और तप (इच्छाओं के निरोध) करने में तत्पर हो।

संत्यज्य लोकचिन्तामात्मपरिज्ञानचिन्तनेऽभिरतः।
जितरोषलोभमदनः सुखमास्ते निर्ज्वरः साधुः ॥ २ ॥

लोकचिंता को छोड़कर आत्म परिज्ञान के चिंतन में तन्मय साधु लोभ, क्रोध और काम को जीतकर वेदनाहीन होता हुआ सुखपूर्वक रहता है।

विषयसुखनिरभिलाषः प्रशमगुणगणाभ्यलंकृतः साधुः।
द्योतयति यथा सर्वाण्यादित्यः सर्वतेजांसि ॥ ३ ॥

जिसको वैषयिक सुखों की अभिलाषा नहीं है और जो प्रशम भाव से उत्पन्न होने वाले गुणों से अलंकृत है वह सूर्य की तरह अपनी सारी तेजस्विता को प्रकट करता है।

सर्वार्थेष्विन्द्रियसंगतेषु वैराग्यमार्गविघ्नेषु।
परिसंख्यानं कार्यं कार्यं परमिच्छता नियतम् ॥ ४ ॥

---

(१) रत्न० १० (२) प्रशम० १२९ (३) प्रशम० २४२ (४) प्रशम० १४८

मुनि के लिए सर्वोत्कृष्ट कार्य कर्म-बंधन की मुक्ति है। जो उसे चाहता है उसका कर्त्तव्य है कि वैराग्य के मार्ग में विघ्न करने वाले इन्द्रिय विषयों में सदा संयम रखे।

तच्चिन्त्यं तद्भाष्यं तत्कार्यं भवति सर्वथा यतिना ।

नात्मपरोभयबाधकमिह यत्परतश्च सर्वार्थम् ॥ ५ ॥

मुनि को सदा वही विचारना चाहिए, वही बोलना चाहिए और वही करना चाहिए जो कभी भी इस लोक में न स्वयं को, न दूसरों को और न दोनों को दुखदायी हो एवं जो परलोक में सर्वार्थ-साधक हो।

इच्छत्येकान्तसंवासं, निर्जनं जनितादरः ।

निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम् ॥ ६ ॥

वह आदर सहित होकर निर्जन एकान्त वास की आकांक्षा करता है और अपने कार्य के वश से कुछ कह कर जल्दी ही उसे भूल जाता है।

निशामयति निश्शेषमिन्द्रजालोपमं जगत् ।

स्पृहयत्यात्मलाभाय, गत्वान्यत्र न तुष्यते ॥ ७ ॥

तब साधु संपूर्ण जगत को इन्द्र जाल के समान देखता है और केवल आत्मलाभ के लिए आकांक्षा करता है। अन्यत्र उसका मन ही नहीं लगता।

अभवच्चित्तविक्षेप, एकान्ते तत्त्वसंस्थितः ।

अभ्यस्येदभियोगेन, योगी तत्त्वं निजात्मनः ॥ ८ ॥

एकान्त में चित्त के विक्षेपों से रहित एवं तत्त्व—चिंतन में संस्थित (लगा हुआ) योगी निजात्म तत्त्व का जम कर अभ्यास करे।

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।

तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि ॥ ९ ॥

(५) प्रशम० १४७ (६) इष्टो० ४० (७) इष्टो० ३९ (८) इष्टो० ३६ (९) इष्टो० ३७

जैसे जैसे साधु के स्वानुभाव में उत्तम तत्त्व अर्थात् आत्मतत्त्व का प्रतिभास होता है वैसे वैसे स्वतः प्राप्त होने वाले विषयों से भी उसे विरक्ति होती जाती है अर्थात् वे भी अच्छे नहीं लगते।

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते, गच्छन्नपि न गच्छति ।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति ॥१०॥

जिसने आत्म तत्त्व को स्थिर कर लिया है वह बोलता हुआ भी नहीं बोलता, चलता हुआ भी नहीं चलता और देखता हुआ भी नहीं देखता।

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते ।
अज्ञाततद्विशेषस्तु, बद्धयते न विमुच्यते ॥११॥

स्वात्म तत्त्व में स्थित रहने वाले योगी की जब शरीरादि वाह्य पदार्थों में प्रवृत्ति नहीं होती और न इष्टानिष्ट कल्पना होती है तब वह कर्मों से नहीं बंधता किन्तु छूटता ही है।

तथा यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि ।
तथा तथा समायाति, सवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥१२॥

जैसे जैसे सुलभ विषयों की ओर से भी मनुष्य का मन हटता जाता है वैसे वैसे ही आत्म तत्त्व उसकी अनुभूति में आता जाता है।

आनन्दो निर्दहत्युद्धं, कर्मेन्धनमनारतम् ।
न चासौ खिद्यते योगी, बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥१३॥

उस योगी को इतना आनंद होता है कि वह (आनंद) निरंतर कर्म रूप जबर्दस्त इंधन को जलाता रहता है। बाहरी दुखों में चेतनाहीन वह योगी कभी भी खेदखिन्न नहीं होता।

---

(१०) इष्टो० ४१ (११) इष्टो० ४४ (१२) इष्टो० ३८ (१३) इष्टो० ४८

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथात्मनि ।

बहिरेवासुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ॥१४॥

जिसने योग का अभी आरंभ ही किया है उसे भी पूर्व वासनाओं के कारण बाह्य विषयों में सुख मालूम होता है और आत्मा में दुख; किन्तु आत्मा में जिसे आत्मत्व के ज्ञान का अभ्यास होगया है उसे बाह्य पदार्थों में रुचि नहीं होती; प्रत्यु आत्मा में ही सुख का भान होता है।

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे ।

जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥१५॥

जो लोक व्यवहार मे अनासक्त रहता है वह आत्मा के विषय मे जागता रहता है और जो इस लोक व्यवहार में जागता है वह आत्मा के विषय में सोता हुआ रहता है।

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत् ।

स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत् ॥१६॥

जिसको आत्म-दर्शन होगया है ऐसे योगी को पहले यह जगत उन्मत्त की तरह मालूम होता है; किन्तु फिर आत्म-दर्शन का अच्छी तरह अभ्यास हो जाने पर यह जगत काठ और पत्थर की तरह मालूम होने लगता है।

अविद्याभिदुरं ज्योति, परं ज्ञानमयं महत् ।

तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं, तद् द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥१७॥

अविद्या को नष्ट करने वाली ज्ञानमय परमोत्कृष्ट एवं महान ज्योति है। मुमुक्षु लोगों का कर्तव्य है कि वे उसी ज्योति के विषय में प्रश्न करें, उसी की खोज करें और उसीका साक्षात्कार करें।

(१४) समाधि० ५२ (१५) समाधि० ७८ (१६) समाधि० ८० (१७) इष्टो० ४६

द्वादश अध्याय

परमेश्वरोपासना

[इस अध्याय में परमेश्वर के वास्तविक रूप को प्रकट करने वाले पद्यों का संकलन है। इनके स्मरण चिन्तन से आत्मा अपने विकारों को धो डालने में समर्थ हो सकता है। साधु और गृहस्थ दोनों के ही लिए परमेश्वरोपासना मुख्य कर्त्तव्य है। परमेश्वरत्व की ओर बढने के लिए साधु को ऐसी उपासना की अनिवार्य आवश्यकता है; अतः 'साधु का कर्त्तव्य' नामक अध्याय के अनंतर इस अध्याय का क्रम है।]

यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दैर्यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः स देवदेवो हृदयेममास्ताम् ॥ १ ॥

जो सारे मुनीन्द्र समूह के द्वारा स्मरण किया जाता है, जिसका सभी मनुष्यों और देवताओं के इन्द्रों द्वारा स्तवन किया जाता है, जिसका वेद, पुराण और शास्त्रों के द्वारा गान गाया जाता है–वह देवों का देव मेरे हृदय में विराजमान हो।

निषूदते यो भवदुःखजालं निरीक्षते यो जगदन्तरालं।
योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीयः स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥२॥

जो संसार के दुःख जाल को नष्ट कर देता है और जो जगत के अंतराल को अच्छी तरह देखता है, जो अंतर्गत (केवल भीतर में ही देखने योग्य) होने के कारण केवल योगियों के द्वारा ही अनुभव करने योग्य है–वह देवों का देव मेरे हृदय में विराजमान हो।

विमुक्तिमार्गप्रतिपादको यो यो जन्ममृत्युव्यसनाद्यतीतः।
त्रिलोकलोकी विकलोऽकलङ्कः स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥३॥

जो मोक्षमार्ग का प्रतिपादक है, जो जन्म और मृत्यु की परेशानियों आदि के पार पहुंच गया है, जो तीन लोक को देखने वाला और जो कर्मों के कलंक से रहित है–वह देवों का देव मेरे हृदय में विराजमान हो।

(१) द्वात्रि० १२ (२) द्वात्रि० १४ (३) द्वात्रि० १५

क्रोडीकृताशेषशरीरिवर्गा रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः ।
निरिन्द्रयो ज्ञानमयोऽनपायः स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥४॥

जिन रागादिक दोषों ने सारे संसार के प्राणियों को अपनी गोद में बिठा रखा है, वे (रागादिक) दोष जिनके नहीं हैं, जो इंद्रियों से नहीं जाने जा सकते, जो ज्ञानमय और विनाश रहित हैं—वे देवों के देव मेरे हृदय में विराजमान हों ।

यो दर्शनज्ञानसुखस्वभावः समस्तसंसारविकारबाह्यः ।
समाधिगम्यः परमात्मसंज्ञः स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥५॥

जो दर्शन, ज्ञान और सुख स्वभाववाला है, जो सारे संसार के विकारों से बाह्य है, जो समाधि के द्वारा जानने योग्य है और जिसे परमात्मा कहते हैं-वह देवों का देव मेरे हृदय में विराजमान हो ।

यो व्यापको विश्वजनीनवृत्तेः सिद्धोविबुद्धो धुतकर्मबन्धः ।
ध्यातो धुनीते सकलं विकारं स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥६॥

जो अपनी विश्व हितकारी प्रवृत्ति के कारण व्यापक है, जो सिद्ध है, जो सब कुछ जानता है, जिसका सारा कर्म बंध नष्ट होगया है, जिसका ध्यान करने पर मनुष्य के सारे विकार नष्ट हो जाते हैं, वह देवों का देव मेरे हृदय में विराजमान हो।

विभासते यत्र मरीचिमाली ना विद्यमाने भुवनावभासी ।
स्वात्मस्थितं बोधमयप्रकाश तं देवमाप्त शरणं प्रपद्ये ॥७॥

जिसके विद्यमान नहीं होने पर जगत को बाह्य प्रकाश देने वाला सूरज भी नहीं चमकता उस स्वात्मस्थ एवं ज्ञानमय प्रकाश वाले परम हितकारी देव को मैं शरण जाता हूँ ।

येन क्षतामन्मथमानमूर्च्छा विषादनिद्राभयशोकचिन्ता ।
क्षयाऽनलेनेव तरुप्रपञ्चस्त देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥८॥

(४) द्वात्रि० १६ (५) द्वात्रि० १३ (६) द्वात्रि० १७ (७) द्वात्रि० ११ (८) द्वात्रि० २१

जिसने काम (इंद्रिय वासना), अभिमान, बाह्य पदार्थों में आसक्ति, विषाद, नींद, डर, शोक और चिन्ता को इस तरह नष्ट कर दिया है जिस तरह प्रलय काल की आग जंगलों को नष्ट कर देती है, उस सच्चे देव की शरण में मैं जाता हूं।

विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तम् ।
शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनन्तं तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥९॥

जिसके प्रत्यक्ष होने पर यह संपूर्ण विश्व विभिन्न रूप से प्रत्यक्ष हो जाता है उस शुद्ध, शिव, शांत और अनादि-अनंत परम हितोपदेशी देव के मैं शरण जाता हूं।

न स्पृश्यते कर्मकलङ्कदोषैर्यो ध्वान्तसंघैरिव तिग्मरश्मिः ।
निरञ्जनं नित्यमनेकमेकं तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥१०॥

जैसे अंधेरे का समूह सूरज को नहीं छू सकता वैसे ही कर्म कलंक रूप दोष जिसे कभी नहीं छू सकते उस निरंजन, नित्य, एक और अनेक स्वरूप आप्तदेव की शरण में जाता हूं।

---

(९) द्वात्रिं० २० (१०) द्वात्रिं० १८

त्रयोदश अध्याय

(स्वाध्याय और ज्ञान भावना)

[साधु स्वाध्याय और ज्ञानार्जन को ही अपनी आत्माराधना का मुख्य साधन बनाता है। ये दोनों न केवल साधु के लिए अपितु मानवमात्र के लिए अत्यंत उपयोगी हैं; अतः इनका सतत समाराधन अत्यंत आवश्यक है। आत्मा के चरमोत्कर्ष के लिए ज्ञान के समान कोई पवित्र वस्तु नहीं है। अतः परमेश्वरोपासना के बाद इस अध्याय में स्वाध्याय और ज्ञान भावना को प्रकट करने वाले कुछ महत्त्वपूर्ण पद्यों का संग्रह दिया गया है।]

नाभून्नास्ति नवा भविष्यति तपःस्कन्धे तपो यत्समं,
कर्मान्यो भवकोटिभिः क्षिपति यद्यन्तर्मुहूर्तेन तत्।
शुद्धिं वानशनादितोऽमितगुणां येनाश्नुतेऽश्नन्नपि,
स्वाध्यायः सततं क्रियेत स मृतावाराधनासिद्धये ॥ १ ॥

मृत्यु के समय आराधना की सिद्धि के लिए वह स्वाध्याय निरंतर किया जाना चाहिए जिसके समान तप संपूर्ण तपःस्कंध में न तो कभी हुआ, न है और न कभी होगा। जो स्वाध्याय उस कर्म को अन्तर्मुहूर्त में नष्ट कर देता है जिस कर्म को दूसरा तपस्वी तपों द्वारा करोड़ों जन्मों में क्षय करता है। इस स्वाध्याय के द्वारा मनुष्य भोजन करता हुआ भी अनशनादि (उपवास वगैरह) तप से होने वाली आत्मशुद्धि की अपेक्षा अनंतगुणी शुद्धि को प्राप्त होता है। (वास्तव में स्वाध्याय एक उत्कृष्ट तप है।)

दृष्टमात्रपरिच्छेत्त्री मतिः शास्त्रेण संस्कृता।
व्यनक्त्यदृष्टमप्यर्थं दर्पणेनेव दृङ्मुखम् ॥ २ ॥

---

(१) अनगार ध० ३–२३ (२) अनगार ध० १–१६

सिर्फ दृष्ट पदार्थ को जानने वाली बुद्धि भी यदि शास्त्र से परिष्कृत (निर्मल) हो जाय तो वह अदृष्ट पदार्थ को भी प्रकट कर सकती है। ठीक वैसे ही जैसे आंख दर्पण के द्वारा मुख को प्रकट कर देती है।

महामोहतमश्छन्नं श्रेयोमार्गं न पश्यति ।
विपुलापि दृगालोकादिव श्रुत्या बिना मतिः ॥ ३ ॥

शास्त्र स्वाध्याय के बिना विशाल बुद्धि भी महामोह रूप अंधकार से व्याप्त कल्याण मार्ग को उसी प्रकार नहीं देखती जिस प्रकार विशाल (अच्छी) आंखें भी प्रकाश के बिना अंधरे के कारण किसी पदार्थ को नहीं देख सकती।

अस्मिन्संसारकक्षे यमभुजगविषाक्रान्तनिःशेषसत्त्वे,
क्रोधाद्युत्तुङ्गशैले कुटिलगतिसरित्पातसन्तापभीमे ।
मोहान्धाः संचरन्ति स्खलनविधुरिताः प्राणिनस्तावदेते,
यावद्विज्ञानभानुर्भवभयदमिदं नोच्छिनत्त्यन्धकारम् ॥ ४ ॥

जिसमें यम रूपी सांप के जहर से सारे जीव आक्रांत है, जिसमें क्रोधादि कषायों रूपी ऊंचे २ पर्वत हैं, जो माया रूप नदी के गिरने के संताप से भयंकर है– ऐसे इस संसार वन में जगह २ फिसलन से परेशान ये मोहांध प्राणी तब तक ही घूमते रहते हैं जब तक कि विज्ञान रूप सूरज संसार के भय के कारण रूप इस अंधेरे को नष्ट नहीं करता है।

निरालोकं जगत्सर्वमज्ञानतिमिराहतम् ।
तावदास्ते उदेत्युच्चैर्न यावज्ज्ञानभास्करः ॥ ५ ॥

जब तक ज्ञान रूपी महान सूरज का उदय नहीं होता है तब तक ही अज्ञान तिमिर से आहत यह सारा जगत प्रकाशहीन बना रहता है।

---

(३) अनगार ध० १-१५ (४) ज्ञाना० ७-२३ (५) ज्ञाना० ७-११

दुःखज्वलनतप्तानां संसारोग्रमरुस्थले ।

विज्ञानमेव जन्तूनां सुधाम्बुप्रीणनक्षमम् ॥ ६ ॥

संसार रूपी भयंकर मरुस्थल में दुख रूप आग से तपे हुए जीवों के लिए सिर्फ विज्ञान (आत्म-ज्ञान) का अमृतमय जल ही शांति देने में समर्थ है।

अगम्यं मन्मृगाङ्कस्य दुर्भेद्यं यद्रवेरपि ।

तद्दुर्बोधोद्धतं ध्वान्तं ज्ञानभेद्यं प्रकीर्तितम् ॥ ७ ॥

जो अंधेरा चंद्रमा के लिए भी अगम्य है और सूरज के लिए भी दुर्भेद्य है वह केवल ज्ञान के द्वारा भेद्य है; क्योंकि ऐसा अंधेरा मिथ्याज्ञान से उत्पन्न होता है और ज्ञान ही मिथ्याज्ञान का विनाशक है।

दुरिततिमिरहंसं मुक्तिलक्ष्मीसरोजं,

मदनभुजगमंत्रं चित्तमातंगसिंहम् ।

व्यसनघनसमीरं विश्वतत्त्वैकदीपं,

विषयशफरजालं ज्ञानमाराधय त्वं ॥ ८ ॥

पाप रूपी अंधेरे के लिए सूर्य, मुक्ति लक्ष्मी निवास के लिए कमल, काम रूपी सांप के लिए मंत्र, चित्त रूपी हाथी के लिए सिंह, दुख अथवा विकृतियों रूपी बादलों के लिए हवा, संपूर्ण तत्त्वों को प्रकाशित करने के लिए दीपक और पंचेन्द्रिय रूपी मछलियों को वश में करने के जाल की तरह इस ज्ञान का तुम आराधन करो।

यत्र बालश्चरत्यस्मिन्पथि तत्रैव पण्डितः ।

बालः स्वमपि बध्नाति मुच्यते तत्त्वविद् ध्रुवम् ॥ ९ ॥

जिस रास्ते से मूर्ख चलता है विद्वान् भी उसी रास्ते से चलता है। दोनों का रास्ता एक ही है, तो भी मूर्ख अपने आपको कर्मों से बांध लेता है; किन्तु विद्वान उनसे मुक्ति पा लेता है।

(६) ज्ञाना० ७-१२ (७) ज्ञाना० ७-११ (८) ज्ञाना० ७-२२ (९) ज्ञाना० ७-२१

ज्ञानपूर्वमनुष्ठानं निःशेषं यस्य योगिनः ।

न तस्य बन्धमायाति कर्म कस्मिन्नपि क्षणे ॥१०॥

जिस योगी का संपूर्ण अनुष्ठान ज्ञान पूर्वक होता है उस योगी के किसी भी क्षण में कर्मों का बंध नहीं होता ।

अज्ञानपूर्विका चेष्टा यतेर्यस्यात्र भूतले ।

स बध्नात्यात्मनात्मानं कुर्वन्नपि तपश्चिरं ॥११॥

इस संसार में जिस साधु की चेष्टाएं अज्ञान पूर्वक होती हैं वह चिरकाल तक तप करता हुआ भी अपने से ही अपने को बांध लेता है ।

यज्जन्मकोटिभिः पापं जयत्यज्ञस्तपोबलात् ।

तद्विज्ञानी क्षणार्द्धेन दहत्यतुलविक्रमः ॥१२॥

मूर्ख तपोबल से करोडों जन्मों में जितने पाप को नष्ट करता है उतने को भेद-विज्ञानी आत्मा अपने अतुल पराक्रम के द्वारा आधे क्षण में नष्ट कर देता है ।

वेष्टयत्याऽऽत्मनात्मानमज्ञानी कर्मबन्धनैः ।

विज्ञानी मोचयत्येव प्रबुद्धः समयान्तरे ॥१३॥

अज्ञानी अपने से ही अपने को कर्म बंधनों से वेष्टित करता है किन्तु वही प्रबुद्ध विज्ञानी आत्मा क्षण भर में उन कर्म बंधनों से अपने के छुडा लेता है ।

बोध एव दृढः पाशो हृषीकमृगबन्धने ।

गारुडश्च महामन्त्रः चित्तभोगिविनिग्रहे ॥१४॥

इन्द्रियों रूपी हरिणों के बांधने के लिए सिर्फ ज्ञान ही दृढ पाश है और यही चित्त रूप सांप को वश करने के लिए गारुड नाम का महामंत्र है ।

---

(१०) ज्ञाना० ७-२० (११) ज्ञाना० ७-१९ (१२) ज्ञाना० ७-१८ (१३) ज्ञाना० ७-१७
(१४) ज्ञाना० ७-१४

रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बन्धः प्रवृत्त्यप्रवृत्तिभ्याम् ।

तत्त्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्षः ॥१५॥

राग और द्वेष के द्वारा होने वाली जो प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति है उनसे जीवके बंध होता है और तत्त्वज्ञान से होने वाली प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति से मोक्ष होता है।

क्षीणतन्द्रा जितक्लेशा वीतसङ्गाः स्थिराशयाः ।

तस्यार्थेऽमी तपस्यन्ति योगिनः कृतनिश्चयाः ॥१६॥

उसी ज्ञान को प्राप्त करने के लिए दृढ निश्चय वाले एवं परिग्रह रहित वह स्थिराशय योगी निद्रा एवं क्लेशों को जीत कर तप करते हैं।

मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान्मूलाङ्कराविव ।

तस्माज् ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा ॥१७॥

जैसे बीज से मूल और अंकुर उत्पन्न होते हैं वैसे ही मोह बीज से राग द्वेष उत्पन्न होते हैं अतः जो इन्हें जलाना चाहते है वे ज्ञान रूप आग मे ही जला सकते है।

निशातं विद्धि निस्त्रिंशं भवारातिनिपातने ।

तृतीयमथवा नेत्रं विश्वतत्त्वप्रकाशने ॥१८॥

बार २ जन्म लेने रूप शत्रु के मारने के लिए ज्ञान एक तीक्ष्ण तलवार है। अथवा यह विश्व तत्त्व प्रकाशित करने के लिए तीसरा नेत्र है।

यद्यदाचरितं पूर्वं तत्तदज्ञानचेष्टितम् ।

उत्तरोत्तरविज्ञानाद्योगिनः प्रतिभासते ॥१९॥

उत्तरोत्तर अधिक ज्ञान होने से योगी को यह प्रतिभासित होने लगता है कि जो जो पहले आचरण किया है वह सब अज्ञान की चेष्टा थी।

---

(१५) आत्मा० १८० (१६) ज्ञाना० ७-१६ (१७) आत्मानु० १८२ (१८) ज्ञाना० ७-१५ (१९) आत्मानु० २५१

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम् ।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ॥२०॥

ज्ञान का फल निश्चय से अनश्वर ज्ञान है। और वही ज्ञान प्रशंसनीय है। यह तो मोह का माहात्म्य ही है कि इसके अतिरिक्त ज्ञान के किसी अन्य फल की खोज की जाती है।

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः ।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज् ज्ञानभावनाम् ॥२१॥

आत्मा का स्वभाव ज्ञान है और स्वभाव की प्राप्ति ही अच्युति कहलाती है। अतः स्वस्वरूप से अच्युति (नहीं गिरना) की आकांक्षा करने वाला मनुष्य ज्ञान-भावना का अभ्यास करे।

---

(२०) आत्मानु० १७५ (२१) आत्मानु० १७४

चौदहवां अध्याय

(गुरु का महत्त्व)

[गुरु का असाधारण महत्त्व है। उसके बिना न परमेश्वर का स्वरूप समझा जा सकता है और न भक्ति का। अतः परमेश्वर की तरह गुरु भी हमारा श्रद्धास्पद होता है। स्वाध्याय और ज्ञानार्जन के बाद ही गुरु का ठीक रूप से परिचयन किया जा सकता है। अतः इस अध्याय में गुरु के महत्त्व को प्रकट करने वाले कुछ स्मरणीय पद्यों का संकलन है।]

नयत्यात्मानमात्मैव, जन्मनिर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥१॥

आत्मा ही आत्मा को (अपने को) जन्म मरण करवाता है और वही उसको निर्वाण प्राप्त करवाता है इसलिए निश्चय से आत्मा का गुरु आत्मा ही है, दूसरा कोई नहीं।

विकाशयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः।
रवेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरूक्तयः ॥२॥

गुरु की तीक्ष्ण उक्तियां भव्य जीव के मन रूपी मुकुल को विकसित कर देती है ठीक वैसे ही जैसे सूर्य की किरणें कमल की कली को।

स्वस्मिन् सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥३॥

आत्मा स्वयं ही अपना गुरु है; क्योंकि वह स्वयं ही अपने में सत् की अभिलाषा करने वाला है और स्वयं ही अपने अभीष्ट का ज्ञायक (बतलाने वाला) है तथा स्वयं ही अपने हित का प्रयोक्ता है।

(१) समाधि० ७५ (२) आत्मानु० १४१ (३) इष्टो० ३४

गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरान्तरम् ।

जानाति यः स जानाति, मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ॥४॥

गुरु के उपदेश से, अभ्यास से और स्व-संवेदन ज्ञान से जो स्व पर के भेद को जानता है वही सदा रहने वाले मुक्ति के सुख को जानता है।

विनयफलं शुश्रूषा गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम् ।

ज्ञानस्य फलं विरतिर्विरतिफलं चास्रवनिरोधः ॥५॥

विनय का फल गुरु की सेवा है और गुरु सेवा का फल श्रुतज्ञान है एवं ज्ञान का फल विरक्ति तथा विरक्ति का फल कर्मास्रव का रोकना है।

दुष्प्रतिकारौ मातापितरौ स्वामी गुरुश्च लोकेस्मिन् ।

तत्र गुरुरिहामुत्र च सुदुष्कतरप्रतीकारः ॥६॥

इस लोक में माता, पिता, स्वामी और गुरु इन सब के उपकार का बदला नहीं चुकाया जा सकता किन्तु, इन सब में भी गुरु के उपकार का बदला न इस लोक में चुकाया जा सकता है और न परलोक में।

गुर्वायत्ता यस्माच्छास्त्रारम्भा भवन्ति सर्वेऽपि ।

तस्माद् गुर्वाराधनपरेण हितकांक्षिणा भाव्यम् ॥७॥

क्योंकि सारे शास्त्रारंभ गुरु के अधीन होते हैं इसलिए अपने हित की इच्छा करने वाले मनुष्य को गुरु की आराधना में तत्पर होना चाहिए।

गुरूणां यदि संसर्गो न स्यान्न स्याद् गुणार्जनम् ।

विना गुणार्जनात् क्वास्य जन्तोः सफलजन्मता ॥८॥

यदि गुरुओं का संसर्ग न हो तो गुणों का अर्जन कभी नहीं हो सकता और गुणार्जन के बिना इस जीव का जन्म कैसे सफल हो सकता है ?

---

(४) इष्टो० ३३ (५) प्रशम० ७२ (६) प्रशम० ७१ (७) प्रशम० ६९
(८) महापु० ९–१७३

रसोपविद्धः सन् धातुः यथा यांति सुवर्णताम् ।

तथा गुरुगुणाश्लिष्टो भव्यात्मा शुद्धिमृच्छति ॥ ९ ॥

जैसे पारे से उपविद्ध धातु सुवर्ण बन जाता है वैसे ही गुरुओं के गुणों से संस्कृत भव्यात्मा मनुष्य शुद्धि को प्राप्त हो जाता है ।

न विना यानपात्रेण तरितुं शक्यतेऽर्णवः ।

नर्ते गुरुपदेशाच्च सुतरोऽयं भवार्णवः ॥१०॥

जहाज के बिना समुद्र कभी नहीं तैरा जा सकता । इसी प्रकार गुरु के उपदेश के बिना संसार समुद्र सुतर (अच्छी तरह तैरने योग्य) नहीं हो सकता ।

यथान्धतमसच्छन्नान् नार्थान् दीपाद् विनेक्षते ।

तथा जीवादिभावांश्च नोपदेष्टुर्विनेक्षते ॥११॥

जैसे गहनांधकार से ढके हुए पदार्थों को दीपक के बिना कोई नहीं देख सकता इसी प्रकार उपदेष्टा अर्थात् गुरु के बिना जीवादि पदार्थों को कोई नहीं देख सकता ।

बन्धवो गुरवश्चेति द्वये सम्प्रीतये नृणाम् ।

बन्धवोऽत्रैव सम्प्रीत्यै गुरवोऽमुत्र चात्र च ॥१२॥

बंधु (भाई वगैरह) और गुरु दोनों ही मनुष्यों के संतोष के कारण हैं; किन्तु बंधु बांधव तो इसी लोक में सुख एवं संतोष के कारण हैं और गुरु तो इस लोक और परलोक दोनों में सुख के कारण हैं ।

शिक्षावचः सहस्रैर्वा, क्षीणपुण्ये न धर्मधीः ।

पात्रे तु स्फायते तस्मा—दात्मैव गुरुरात्मनः ॥१३॥

हजारों शिक्षा के वचनों से भी भाग्यहीन में धर्म बुद्धि पैदा नहीं होती उसकी वृद्धि तो पात्र में ही होती है अतः और वह पात्र आत्मा ही है आत्मा ही अपना गुरु है ।

---

(९) महापु० ९-१७४ (१०) महापु० ९-१७५ (११) महापु० ९-१७६
(१२) महापु० ९-१७७ (१३) अन० २-५५

पंद्रहवाँ अध्याय

(भक्ति)

[स्वाध्याय और ज्ञानार्जन के साथ भक्ति का बहुत संबंध है। स्वाध्याय के द्वारा अर्जित ज्ञान से ही मनुष्य भक्ति की वास्तविकता को जान सकता है। अतः स्वाध्याय और ज्ञानार्जन एवं गुरु के महत्त्व के बाद ही भक्ति का क्रम आता है। स्वाध्याय आदि की तरह भक्ति का फल भी आत्मशुद्धि ही है। ऐहिक प्रयोजनों की प्राप्ति भक्ति का फल मानना उसकी महत्ता को गिराना है। इस अध्याय में भक्ति विषयक मनोहर पद्यों का संग्रह है।]

एकीभावं गत इव मया यः स्वयं कर्मबंधो,
घोरं दुःखं भवभवगतो दुर्निवारः करोति।
तस्याप्यस्य त्वयि जिनवरे ! भक्तिरुन्मुक्तये चेत्,
जेतुं शक्यो भवति न तया कोऽपरस्तापहेतुः ॥ १ ॥

जो कर्म बंध मानों मेरे साथ स्वयं एकमेक होकर रह रहा है और जो दुर्निवार बन कर प्रत्येक भव में मुझे घोर दुख देता रहता है—ऐसे भी जबर्दस्त कर्म बंध को जड से उखाड डालने के लिए तेरी भक्ति यदि समर्थ है तो फिर ऐसा कौन सा संताप का कारण है जो तुम्हारी भक्ति से दूर नहीं हो सकता।

आनंदाश्रुस्नपितवदनं गद्गदं चाभिजल्पन्,
यश्चायेत त्वयि दृढमनाः स्तोत्रमंत्रैर्भवन्तम्।
तस्याभ्यस्तादपि च सुचिरं देहवल्मीकमध्या-
न्निष्कास्यंते विविधविषमव्याधयः काद्रवेयाः ॥ २ ॥

जो तुम में अपना मन दृढता पूर्वक लगा कर आनंद के आंसुओं से अपने मुंह को स्नान कराता गद्गद होकर बोलता हुआ स्तोत्र रूपी मंत्रों से आपका स्तवन

(१) एकी० १ (२) एकी० १

करता है उसके चिर काल से अभ्यस्त भी शरीर रूपी बिल से नाना प्रकार की भयंकर व्याधिएं रूपी सांप अवश्य ही निकल कर भगजाते हैं।

जानासि त्वं मम भवभवे यच्च यादृक्च दुःखं,
जातं यस्य स्मरणमपि मे शस्त्रवन्निष्पिनष्टि।
त्वं सर्वेशः सकृप इति च त्वामुपेतोऽस्मि भक्त्या,
यत्कर्तव्यं तदिह विषये देव! एव प्रमाणम् ॥ ३ ॥

मैंने अपने प्रत्येक भव मे जो और जैसा दुख पाया है उसकी याद भी मुझे शस्त्र की तरह पीस डालतो है। तुम सब के स्वामो हो और साथ ही कृपावान यही समझ कर मैं भक्ति पूर्वक तुम्हारे पास आया हूँ। हे देव अब मुझे क्या करना है इस विषय में आप ही प्रमाण है।

लोकस्यैकस्त्वमसि भगवन्निर्निमित्तेन बंधु,
स्त्वय्येवासौ सकलविषया शक्तिरप्रत्यनीका।
भक्तिस्फीतां चिरमधिवसन्मामिकां चित्तशय्यां,
मय्युत्पन्नं कथमिव ततः क्लेशयूथं सहेथाः ॥ ४ ॥

हे भगवन! तुम अकारण ही जगत के अद्वितीय बंधु हो, तुम संपूर्ण शक्ति के केन्द्र हो जिसमें कभो बाधा उपस्थित नहीं हो सकती अतः भक्ति मे विशाल मेरी चित्त रूपी शय्या पर विराजमान तुम मुझ में उत्पन्न क्लेशों के समूह को कैसे सहोगे?

शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा
भक्तिर्नो चेदनवधिसुखावञ्चिका कुञ्चिकेयं।
क्योद्घाटं भवति हि कथं मुक्तिकामस्य पुंसो-
मुक्तिद्वारं परिदृढमहामोहमुद्राकवाटम् ॥ ५ ॥

---

(३) एकी० ४ (४) एकी० ५ (५) एकी० ११

यदि मनुष्य का ज्ञान शुद्ध और चारित्र भी पवित्र हो तो भी यदि अंतहीन सुख का कारण तुम्हारी भक्ति रूपी चाबी न हो तो मुक्ति चाहने वाले मनुष्य के लिए मुक्ति का वह दरवाजा कैसे खुल सकता है जिसके महामोहरूपी जबर्दस्त ताला जुड़ा हुआ है।

पश्यन्तं त्वद्वचनममृतं भक्तिपात्र्या पिबंतं,
कर्मारण्यात्पुरुषमसमानंदधामप्रविष्टं ।
त्वां दुर्वारस्मरमदहरं त्वत्प्रसादैकभूमिं,
क्रूराकाराः कथमिव रुजाकंटका निर्लुठंति ॥ ६ ॥

हे भगवन् ! जिसको बड़ी कठिनता से ही रोका जा सकता है ऐसे कामरूपी शत्रु के अभिमान को हरण करने वाले तुम्हारे दर्शन करते हुए, तुम्हारे वचन रूपी अमृत को भक्ति रूपी पात्र से पीते हुए, तथा कर्मजंगल से हट कर असाधारण धाम को प्रविष्ट हुए एवं तुम्हारी कृपा के एक मात्र स्थान ऐसे पुरुष को क्रूर आकार वाले रोग रूपी कांटे कैसे परेशान कर सकते हैं ?

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्,
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात् ।
धातासि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानाद्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन्पुरुषोत्तमोसि ॥ ७ ॥

हे भगवन् ! तुम ही बुद्ध हो; क्योंकि तुम्हारे बुद्धिबोध की देवताओं ने पूजा की है, तुमही शंकर हो; क्योंकि तीन लोक के लिए सुख के कारण हो। हे धीर ! तुम ही धाता (ब्रह्मा) हो; क्योंकि तुमने ही मोक्ष मार्ग की विधि का विधान किया है और हे भगवन ! तुमही सब पुरुषों में श्रेष्ठ होने के कारण विष्णु हो।

नात्यद्भुतं भुवन–भूषण भूत–नाथ !
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।

(६) एकी० ८ (७) भक्ता० २५

तुल्या भवंति भवतो ननु तेन किंवा,

भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥ ८ ॥

हे जगत के भूषण और हे जीवों के नाथ! संसार में वास्तविक गुणों से आपकी स्तुति करते हुए लोग यदि आपके समान हो जाएं तो इसमें कोई आश्चर्य को बात नहीं है; क्योंकि उस स्वामी से क्या लाभ है जो अपने आश्रित को वैभव की दृष्टि मे अपने समान नहीं बना लेता।

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो! शिथिलीभवंति

जंतोः क्षणेन निविडा अपि कर्मबंधाः।

सद्यो भुजंगमचया इव मध्यभाग-

मभ्यागते वनशिखंडिनि चंदनस्य ॥ ९ ॥

हे स्वामिन्! यदि आप किसी के हृदय में विराजमान हों तो उसके कठोर कर्मबंध भी क्षण भर मे ढोले पड जाते हैं; ठीक वैसे ही जैसे चंदन वृक्ष के मध्य भाग मे स्थित सांपों के समूह बन--मयूर के वहा आने पर इधर उधर फौरन भग जाते है।

सामान्यतोपि तव वर्णयितुं स्वरूप-

मस्मादृशाः कथमधीश! भवंत्यधीशाः।

धृष्टोपि कौशिकशिशुर्यदि वा दिवांधो,

रूपं प्ररूपयति किं किल घर्मरश्मेः ॥१०॥

हे अधीश! हम जैसे लोग तुम्हारे स्वरूप का सामान्य की अपेक्षा भी वर्णन करने के लिए कैसे समर्थ हो सकते हैं? ठीक ही तो है, चाहे दिवान्ध उल्लू का बच्चा कितना ही धृष्ट क्यों न हो क्या सूरज के स्वरूप का निरूपण कर सकता है?

(८) भक्ता० १० (९) कल्याण० ८ (१०) कल्याण० ३

प्रादुर्भूतस्थिरपदसुख ! त्वामनुध्यायतो मे,
त्वय्येवाहं स इति मतिरुत्पद्यते निर्विकल्पा ।
मिथ्यैवेयं तदपि तनुते तृप्तिमभ्रेषरूपां,
दोषात्मानोऽप्यभिमतफलास्त्वत्प्रसादाद् भवन्ति ॥११॥

उत्पन्न होगया है स्थिर पद का सुख जिसको ऐसे हे भगवन् ! आपका ध्यान करते हुए मुझे यह निर्विकल्प बुद्धि उत्पन्न हो जाती है कि मैं आपसे भिन्न नहीं हूं। यद्यपि यह मिथ्या ही है तो भी यह मुझे स्थिर आनंद प्रदान करती है। ठीक ही है आपकी कृपा से गलत चीजें भी इच्छित फल को प्रदान करने वाली बन जाती हैं।

जन्माटव्यां कथमपि मया देव ! दीर्घं भ्रमित्वा,
प्राप्तैवेयं तव नयकथा स्फारपीयूषवापी ।
तस्या मध्ये हिमकरहिमव्यूहशीते नितान्तं,
निर्मग्नं मा न जहति कथं दुःखदावोपतापाः ॥१२॥

हे भगवन् ! संसार रूप जंगल में दीर्घकाल तक घूमकर मैंने विशाल अमृत की बावड़ी के समान तुम्हारी यह नयकथा (कल्याण मार्ग) किसी तरह प्राप्त की है। चंद्रमा की किरणों के गिरने से और भी ठंडे हुए बर्फ के ढेर के समान शीतल उसके भीतर बिलकुल डूबे हुए मुझे दुखों की ज्वाला के संताप क्यों नहीं छोड़ते हैं ?

हृद्यः प्राप्तो मरुदपि भवन्मूर्तिशैलोपवाही,
सद्यः पुंसां निरवधिरुजाधूलिबन्धं धुनोति ।
ध्यानाहूतो हृदयकमलं यस्य तु त्वं प्रविष्टः-
स्तस्याशक्यः क इह भुवने देव ! लोकोपकारः ॥१३॥

आपके शरीर रूपी पहाड़ से स्पर्श करके आने वाली सुंदर हवा भी मनुष्यों के सीमाहीन रोग रूपी धूली बंध को बिखेर देती है; किन्तु जिसके हृदय कमल में

(११) एकीभाव० १७ (१२) एकीभाव० ६ (१३) एकीभाव० १०

सु ध्यान के द्वारा निमंत्रित होकर प्रविष्ट हो जाता है, हे देव ! संसार में उसके लिए कौनसा लोकोपकार अशक्य है ?

तुंगात्फलं यत्तदकिंचनाच्च प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः ।

निरंभसोऽप्युच्चतमादिवाद्रेर्नैकापि निर्याति धुनी पयोधेः ॥१४॥

अकिंचन किन्तु महान से जो फल उपलब्ध हो सकता है वह समृद्धिशाली धनेश्वर से नहीं हो सकता । ठीक ही है जलहीन किन्तु उच्चतम पहाड़ से जैसे नदियां निकलती है वैसे जलराशि समुद्र से एक भी नदी प्रवाहित नहीं होती । अर्थात् हे भगवन् ! तुम यद्यपि अकिंचन हो; फिर भी तुंग (ऊंचे–महान) हो इसलिए सभी समृद्धियां तुमसे मुझे प्राप्त होंगी ।

आत्यंतिकं सुखमभीप्सति दुःखहान्या,

तत्कारणं न भवतः कुरुते सपर्याम् ।

लोकस्य एष विपरीतगतिः कुतो वा,

मोहांधकारपिहितस्य विवेकदीपः ॥१५॥

मनुष्य दुख का विनाश और आत्यंतिक सुख के पाने की इच्छा तो करता है; किन्तु उसके कारण रूप तुम्हारी पूजा नहीं करता । मोहांधकार से ढके हुए लोक का यह विवेक दीपक विपरीत गतिवाला किस कारण से है ?

पादाम्बुजद्वयमिदं तव देव यस्य,

स्वच्छे मनःसरसि संनिहितं समास्ते ।

तं श्रीः स्वयं भजति तं नियतं वृणीते,

स्वर्गापवर्गजननीव सरस्वतीयम् ॥१६॥

हे देव ! जिसके स्वच्छ मन रूपी सरोवर में तुम्हारा यह चरणकमलयुग

(१४) विषापहार–१६ (१५) श्री पार्श्वनाथ चरित द्वादशसर्ग–५६ (१६) यशस्तिलक-चम्पूकाव्य = आश्वास, पृष्ठ ३७६

संनिकट विराजमान रहता है उसको लक्ष्मी स्वयं आकर सेवा करती है और स्वर्ग तथा मोक्ष की उत्पादिका यह सरस्वती उसका स्वयं वरण करती है।

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥१७॥

हे भगवन्! आप तो वीतराग और वीतद्वेष हैं इसलिए आपको न पूजा से कोई प्रयोजन है और न निन्दा से कोई हानि, तो भी तुम्हारे पवित्र गुणों का स्मरण हमारे चित्त को पाप की कालिमा दूर कर पवित्र करता है। यही आपकी पूजा का फल है।

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबांधव! दुःखपात्रं,
यस्मात्क्रियाः प्रतिफलंति न भावशून्याः ॥१८॥

मैने तुम्हें सुना है, तुम्हें पूजा भी है, तुम्हारा निरीक्षण भी किया है किन्तु भक्तिपूर्वक तुम को चित्त में धारण नहीं किया। हे लोकबांधव! यही कारण है कि मै दुखों का पात्र बना हुआ हूं। ठीक ही है भावशून्य क्रियाओं का कोई फल नहीं मिलता।

त्वं नाथ! दुःखिजनवत्सल! हे शरण्य!
कारुण्यपुण्यवसते! वशिनां वरेण्य!
भक्त्या नते मयि महेश! दयां विधाय,
दुःखांकुरोद्दलनतत्परतां विधेहि ॥१९॥

हे दुखी जनों के वत्सल! हे शरणार्थियों का शरण देने वाले! हे करुणा और पुण्य के निवास स्थान! हे मन एवं इन्द्रियों पर विजय पाने वालों में श्रेष्ठ! और हे महेश! भक्ति से विनत मुझ पर दया करके तुम मेरे दुखांकुरों के नाश करने में तत्परता उत्पन्न करो।

(१७) बृहत्स्वयं० ५७ (१८) कल्याण० ३८ (१९) कल्याण० ३९

उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि, त्वयि स्वभावाद्विमुखश्च दुःखं ।
सदावदातद्युतिरेकरूपस्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि ॥२०॥

हे भगवन ! जो मनुष्य भक्ति से आपके सन्मुख होता है वह सुखों को पाता है और जो आपके विमुख होता है वह दुखों को। यह बात बिलकुल स्वाभाविक है। दर्पण तो हमेशा निर्मल द्युति होता है। उसमें जो आदमी अपने मुंह को जैसा बना लेता है उसका वैसा हो प्रतिबिम्ब हो जाता है। जो अपने मुंह को टेढा बना कर देखता है उसका मुंह काच मे टेढा हो जाता है और जो सीधा देखता है उसका सीधा हो दिखता है, किन्तु यह सब काच नहीं करता।

विषापहारं मणिमौषधानि मंत्रं समुद्दिश्य रसायनं च ।
भ्राम्यंत्यहो न त्वमिति स्मरंति पर्यायनामानि तवैव तानि ॥२१॥

भगवन् ! आश्चर्य है कि विषों को दूर करने वाले मणि, औषध, मंत्र और रसायन की ओर आकृष्ट हो कर लोग व्यर्थ ही इधर उधर भटकते फिरते है तथा यह नहीं समझते कि ये सब तो तुम्हारे ही पर्यायवाची शब्द है। सच तो यह है कि जहर को दूर करने वाला मणि, औषध, मंत्र और रसायन तुम्ही हो।

इति स्तुतिं देव ! विधाय दैन्याद्वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि ।
छायातरुं संश्रयतः स्वतः स्यात् कश्छायया याचितयात्मलाभः ॥२२॥

हे देव ! इस प्रकार आपकी स्तुति कर मैं आपसे कोई भी वर नहीं मागता; क्योंकि किसी से कुछ भी मांगना तो एक प्रकार की दीनता है। और आप तो उपेक्षक (उदासीन) हैं देंगे भी क्या ? तथा सच तो यह है कि छायादार वृक्ष का आश्रय पाने वाले मनुष्य को छाया तो स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। ऐसे वृक्ष से छाया की याचना करने से क्या लाभ है ?

अथास्ति दित्सा यदि वोपरोधस्त्वय्येव सक्तां दिश भक्तिबुद्धिम् ।
करिष्यते देव ! तथा कृपां मे को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरिः ॥२३॥

यदि आपको मुझे भक्ति का कोई फल देने की इच्छा अथवा अनुरोध है तो आप में मेरी भक्ति बनी रहे यही वर मुझे दीजिए।

(२०) विषाप० ७ (२१) विषाप० १४ (२२) विषाप० ३८ (२३) विषाप० ३९

सोलहवाँ अध्याय

ध्यान

[मन की एकाग्रता के लिए ही नही, संसार के विषयों से मन को हटाने के लिए भी ध्यान अनिवार्य साधन है। उसके बिना कभी भी कर्मों का क्षय नहीं हो सकता। भक्ति से संस्कृत मन को ध्यान में प्रवृत्त होने के लिए बहुत सहूलियत होती है अतः भक्ति के बाद इसका क्रम रखा गया है। ध्यान मानव मन के विकारों को नष्ट करने के लिए आग है। श्रुतज्ञान की निश्चल पर्यायें ही ध्यान है। ध्यान का महत्त्व सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं। इस अध्याय में ध्यान विषयक कुछ महत्त्वपूर्ण पद्यों का संकलन है।]

एकाग्र–चिन्ता–रोधो यः परिस्पन्देन वर्जितः।
तद्ध्यानं निर्जरा–हेतुः संवरस्य च कारणम् ॥ १ ॥

एक पदार्थ को मुख्य कर के उसी का चिंतन करना एवं अन्य सभी पदार्थों के चिंतन का निरोध करना ध्यान कहलाता है। ध्यान परिस्पंद से रहित होता है; उसमें किसी प्रकार की अस्थिरता नहीं होती। यह ध्यान निर्जरा (ज्ञानावरणादि कर्मों का आंशिक क्षय) और संवर (आत्मा में नये कर्मों का न आना) का कारण है।

ध्याता ध्यानं फलं ध्येयं यस्य यत्र यदा यथा।
इत्येतदत्र बोद्धव्यं ध्यातुकामेन योगिना ॥ २ ॥

ध्यान की इच्छा करने वाले योगी को ध्याता, ध्यान, ध्येय (ध्यान करने योग्य वस्तु) और ध्यान का फल यह अच्छी तरह जानना चाहिए। इस पद्य में 'यस्य' ध्यान का स्वामी 'यत्र' ध्यान का स्थान 'यदा' ध्यान का काल और 'यथा' ध्यान की अवस्था का वाचक है।

---

(१) तत्त्वानु० ५६ (२) तत्त्वानु० ३७

गुप्तेन्द्रिय–मना ध्याता ध्येयं वस्तु यथास्थितम् ।
एकाग्रचिन्तनं ध्यानं निर्जरा–संवरौ फलम् ॥ ३ ॥

ध्याता (ध्यान करने वाला) वह है जिसने इन्द्रियों और मन को वश मे कर लिया हो । जिस वस्तु का विचार किया जाय वही ध्येय है । अन्य समस्त चिन्ताओं का निरोध कर किसी एक पदार्थ का विचार करना ध्यान है और उस ध्यान का फल संवर और निर्जरा है । आत्मा में कर्म–विकारों का न आना संवर तथा संचित कर्मों का अंशतः क्षय होते जाना निर्जरा है ।

देशः कालश्च सोऽन्वेष्यः सा चाऽवस्थाऽनुगम्यताम् ।
यदा यत्र यथा ध्यानमपविघ्नं प्रसिद्धयति ॥ ४ ॥

जब, जहां और जैसे निर्विघ्न ध्यान की सिद्धि हो सके वही देश, वही काल, और उसी अवस्था का ध्यान की सिद्धि को इच्छा रखने वाले साधक को अन्वेषण व अनुगमन करना चाहिए ।

संग–त्यागः कषायाणां निग्रहो व्रत–धारणम् ।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यान–जन्मनि ॥ ५ ॥

परिग्रह का त्याग, क्रोधादि कषायों का निग्रह, अहिंसादि व्रतों का धारण करना तथा मन एवं इंद्रियों पर विजय पाना ध्यान की उत्पत्ति को सामग्री है ।

स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः ।
षट्कारकमयस्तस्माद् ध्यानमात्मैव निश्चयात् ॥ ६ ॥

यह आत्मा अपने आत्मा को अपने में अपने द्वारा अपने लिए और अपने मे ध्यान का विषय बनावे । वास्तव में तो षट् कारकमय यह आत्मा ही ध्यान है ।

इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभुः ।
मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥ ७ ॥

(३) तत्त्वानु० ३८ (४) तत्त्वानु० ३९ (५) तत्त्वानु० ६५ (६) तत्त्वानु० ७४
(७) तत्त्वानु० ७६

इंद्रियों की प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में मन ही समर्थ है इसलिए मन को ही जीतना चाहिए। क्योंकि उसी के जीतने पर मनुष्य जितेन्द्रिय हो सकता है।

ज्ञान–वैराग्य–रज्जुभ्यां नित्यमुत्पथवर्तिनः।
जितचित्तेन शक्यन्ते धर्तुमिन्द्रिय–वाजिनः॥ ८॥

हमेशा उन्मार्ग को जाने वाले इन्द्रिय रूपी घोड़े केवल उसीके द्वारा ज्ञान और वैराग्य रूपी रस्सियों से वश में किये जा सकते हैं जिसने अपने मन को जीत लिया है।

संचिन्तयन्ननुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः।
जयत्येव मनः साधुरिन्द्रियाऽर्थ–पराङ्मुखः॥ ९॥

अनुप्रेक्षाओं (बारह प्रकार की अनित्य आदि भावनाएँ) का चिंतन करता हुआ, हमेशा स्वाध्याय में उद्यत रहने वाला एवं इंद्रियों के विषयों से विमुख साधक अवश्य ही मन को जीत लेता है।

स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यान–स्वाध्याय–सम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥१०॥

स्वाध्याय ध्यान में और ध्यान स्वाध्याय में कारण है तथा ध्यान और स्वाध्याय की सम्पत्ति से आत्मा परमात्मा बन जाता है।

प्रत्याहृत्याक्षलुंटाकांस्तदर्थेभ्यः प्रयत्नतः।
चिन्तां चाकृष्य सर्वेभ्योनिरुद्धय ध्येयवस्तुनि॥११॥
निरस्तनिद्रो निर्भीतिर्निरालस्यो निरन्तरम्।
स्वरूपं पररूपं वा ध्यायेदन्तर्विशुद्धये॥१२॥

अपने अपने विषयों से प्रयत्न पूर्वक इंद्रिय रूपी लुटेरों को हटाकर, सारे पदार्थों से व्याकुल होकर, ध्येय वस्तु में मन को रोक कर, निद्रा रहित, भय रहित

(८) तत्त्वानु० ७७ (९) तत्त्वानु० ७९ (१०) तत्त्वानु० ८१ (११) तत्त्वानु० ९४,९५

और निरंतर आलस्य रहित होता हुआ अपने अंतःकरण की विशुद्धि के लिए अपने रूप अथवा परके रूप का ध्यान करे।

यथा निर्वात–देशस्थः प्रदीपो न प्रकम्पते।
तथा स्वरूपनिष्ठोऽयं योगी नैकाग्र्यमुज्झति ॥१३॥

जैसे वायु रहित प्रदेश में ठहरा हुआ प्रदीप कंपन रहित होता है इसी प्रकार अपने स्वरूप में स्थित यह योगी एकाग्रता को कभी नहीं छोड़ता।

अत एवाऽन्य–शून्योऽपि नाऽऽत्मा शून्यः स्वरूपतः।
शून्याऽशून्यस्वभावोऽयमात्मनैवोपलभ्यते ॥१४॥

इसीलिए अन्य सभी वस्तुओं से शून्य होने पर भी यह आत्मा अपने स्वरूप से कभी शून्य नहीं होता। इस प्रकार शून्य एवं अशून्य स्वभाव वाले इस आत्मा की अपने ही द्वारा उपलब्धि होती है।

अनादिविभ्रमोद्भूतं रागादितिमिरं घनम्।
स्फोटयत्याशु जीवस्य ध्यानार्कः प्रविजृम्भितः ॥१५॥

ध्यान रूपी सूर्य का विस्तार अनादि से चले आरहे विपरीत ज्ञान से उत्पन्न जो रागादि रूप घना अंधेरा है उसे शीघ्र ही विघटित कर देता है।

प्रशस्तेतरसंकल्पवशात्तद्भिद्यते द्विधा।
इष्टानिष्टफलप्राप्तेर्बीजभूतं शरीरिणाम् ॥१६॥

शुभ और अशुभ संकल्प के कारण ध्यान के दो भेद हैं। शुभ ध्यान से इष्ट फल की प्राप्ति होती है और अशुभ ध्यान से अनिष्ट फल की; अर्थात् ध्यान ही शरीरधारियों की इष्ट और अनिष्ट फल प्राप्ति का बीज है।

(१३) तत्वानु० १७१ (१४) तत्वानु० १७३ (१५) ज्ञाना० २५-५ (१६) ज्ञाना०२५-१७

अस्तरागो मुनिर्यत्र वस्तुतत्त्वं विचिन्तयेत् ।
तत्प्रशस्तं मतं ध्यानं सूरिभिः क्षीणकल्मषैः ॥१७॥

जिसका राग अस्त हो गया है ऐसा वीतराग साधु जिस ध्यान में वस्तु के स्वरूप का विचार करता है उसे ही क्षीण कल्मष (पाप रहित) आचार्यों ने प्रशस्त ध्यान कहा है। अर्थात् वीतराग का ध्यान ही प्रशस्त ध्यान है।

अज्ञातवस्तुतत्त्वस्य रागाद्युपहतात्मनः ।
स्वातंत्र्यवृत्तिर्या जन्तोस्तदसद्ध्यानमुच्यते ॥१८॥

जिसने वस्तु तत्व को नहीं जाना है, जिसकी आत्मा रागादि दोषों से बाधित है ऐसे जीव की जो स्वातंत्र्यवृत्ति–ध्यान के विषय में इच्छानुसार प्रवृत्ति–है वह असत् ध्यान कहलाता है।

साम्यमेव न सद्ध्यानात् स्थिरीभवति केवलम् ।
शुद्ध्यत्यपि च कर्मौघकलङ्की यन्त्रवाहकः ॥१९॥

श्रेष्ठ ध्यान से केवल साम्य भाव ही स्थिर नहीं होता, कर्मों के समूह से कलंकी यह यंत्रवाहक (आत्मा) भी शुद्ध हो जाता है।

स्तोकमपीह न चाद्भुतमस्ति न्यस्य समस्तपरिग्रहसङ्गम् ।
यत्क्षणतो दुरितस्य विनाशं ध्यानबलाज्जनयन्ति बृहन्तः ॥२०॥

इसमें थोड़ा भी आश्चर्य नहीं कि महान पुरुष संपूर्ण परिग्रह का संग छोड़कर ध्यान के बल से क्षण भर में पापों का नाश कर देते हैं।

किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वेत्यविशेषयन् ।
स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः ॥२१॥

---

(१७) ज्ञाना० २७-१८ (१८) ज्ञाना० २५-१९ (१९) ज्ञाना० २५-३
) पद्मपु० १३-१११ (२१) इष्टो० ४२

योग में तत्पर योगी यह क्या है ? कैसा है ? किसका है ? किसमें है और कहां है इस प्रकार विशेषता रहित होता हुआ अपने देह को भी नहीं जानता (अन्य पदार्थों की कौन कहे)

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहि:स्थिते: ।
जायते परमानन्द: कश्चिद्योगेन योगिन: ॥२२॥

अपने कर्तव्य में स्थिर और व्यवहार से बाहर रहने वाले योगी के योग में कोई (अनिर्वचनीय) परमानंद उत्पन्न होता है ।

यस्य ध्यानं सुनिष्कम्पं समत्वं तस्य निश्चलम् ।
नानयोर्विद्धयधिष्ठानमन्योऽन्यं स्याद्धि भेदत: ॥२३॥

जिसके निश्चल ध्यान संपन्न हो जाता है उसका समत्व भी निश्चल हो जाता है । इन दोनों के आधार में परस्पर भेद नहीं है अर्थात ध्यान का आधार समत्व है और समत्व का आधार ध्यान है ।

भवज्वलनसम्भूतमहादाहप्रशान्तये ।
शश्वद्ध्यानाम्बुधेर्धीरैरवगाह: प्रशस्यते ॥२४॥

संसार रूपी आग से उत्पन्न होने वाले दाह की शांति के लिए धैर्यधारी (मनीषियों) लोगों ने ध्यान रूपी समुद्र के अवगाहन को ही श्रेष्ठ माना है ।

यदैव संयमी साक्षात्समत्वमवलम्बते ।
स्यात्तदैव परं ध्यानं तस्य कर्मौघघातकम् ॥२५॥

जब ही संयमी समत्व का साक्षात् सहारा पकड़ लेता है तभी उसके कर्मों के समूह का नाश करने वाला उत्कृष्ट ध्यान उत्पन्न हो जाता है ।

(२२) इष्टो० ४७ (२३) ज्ञानार्णव २५–२ (२४) ज्ञाना० २५–६ (२५) ज्ञाना० २५–४

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित् ।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥२६॥

आत्मा को जानने वाला मनुष्य जिस भाव से जिस रूप आत्मा को जानता है उससे उसी रूपता को प्राप्त हो जाता है। जैसे स्फटिक पर जिस रंग का प्रभाव पड़ता है वह उसी वर्ण रूप दिखने लगता है वैसे ही आत्मा भी ध्यान से अपने को उसी रूप अनुभव करने लगता है।

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः ।
आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम् ॥२७॥

इन्द्रियों के समूह को वश में कर चित्त की एकाग्रता से आत्मवान मनुष्य को आत्मा के द्वारा आत्मा में स्थित आत्मा को देखना चाहिए।

ज्ञानवैराग्यसंपन्नः संवृतात्मा स्थिराशयः ।
मुमुक्षुरुद्यमी शान्तो ध्याता धीरः प्रशस्यते ॥२८॥

जो ज्ञान एवं वैराग्य संपदा से युक्त हो, जिसने बुराइयों को रोक लिया हो, जिसका आशय (हृदय, मन) स्थिर हो, जो बंधनों से छूटना चाहता हो, जो उद्यमशील हो, आलसी न हो, जिसका मन अपने वश में हो और जो घबड़ाने वाला न हो वही ध्याता प्रशंसा के योग्य है।

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी,
विधानतो नो फलको विनिर्म्मितः ।
यतो निरस्ताक्षकषायविद्विषः,
सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः ॥२९॥

ध्यान के लिए न संथारे की जरूरत है, न पत्थर की, न तृण की, न पृथ्वी की और न काष्ठ फलक की; क्योंकि विद्वानों ने ध्यान के लिए केवल उस आत्मा को ही साधन माना है जिसने इन्द्रिय और कषाय रूपी शत्रुओं पर विजय पा लिया है।

(२६) तत्त्वानु० १९१ (२७) इष्टो० २२ (२८) ज्ञाना० २७–३ (२९) द्वात्रिंशिका० २२

न संस्तरो भद्र ! समाधिसाधनं, न लोकपूजा न च संघमेलनम् ।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं, विमुच्य सर्वामपि बाह्यवासनाम् ।३०।

हे भद्र ! समाधि का साधन न तो आसन है, न लोक-पूजा और न संघ का मिलाना । जब यह बात है तब तुम्हारा कर्तव्य है कि संपूर्ण बाह्य वासना को छोड़ कर तू निरंतर आत्मा में रत रहने का प्रयत्न कर ।

एकान्तेऽतिपवित्रे रम्ये देशे सदा सुखासीनः ।
आचरणाग्र-शिखाग्राच्छिथिलीभूताखिलावयवः ॥३१॥
रूपं कान्तं पश्यन्नपि शृण्वन्नपि गिरं कलमनोज्ञाम् ।
जिघ्रन्नपि च सुगन्धीन्यपि भुञ्जानो रसास्वादम् ॥३२॥
भावान् स्पृशन्नपि मृदूनवारयन्नपि च चेतसो वृत्तिम् ।
परिकलितौदासीन्यः प्रणष्टविषयभ्रमो नित्यम् ॥३३॥
बहिरन्तश्च समन्ताच्चिन्ताचेष्टापरिच्युतो योगी ।
तन्मयभावं प्राप्तः कलयति भृशमुन्मनीभावम् ॥३४॥

एकान्त, अति पवित्र और रमणीय प्रदेश में सुखासन से बैठा हुआ, योगी पैर के अंगूठे से लेकर मस्तक के अग्रभाग तक समस्त अवयवों को ढीला कर के, मनोहर रूप को देखता हुआ भी, मीठी और मनोज्ञ वाणी को सुनता हुआ भी, सुगन्धित पदार्थों को सूंघता हुआ भी, रस का आस्वादन करता हुआ भी, कोमल पदार्थों का स्पर्श करता हुआ भी और चित्त के व्यापारों को न रोकता हुआ भी जो उदासीन भाव से युक्त है-पूर्ण समभावी है तथा जिसने विषय सम्बन्धी आसक्ति का परित्याग कर दिया है और जो बाह्य और आन्तरिक चिन्ता एवं चेष्टाओं से रहित हो गया है (वह) तन्मय भाव-तल्लीनता को प्राप्त करके अतीव उन्मनी भाव (उत्कृष्ट मनःस्थिति) को प्राप्त कर लेता है ।

इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखंडकं ।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्रियंतां विवेकिनः ॥३५॥

इधर दिव्य चिंतामणि है और उधर खल का टुकड़ा, दोनों ही चीजें ध्यान से प्राप्त होती हैं, सोचिए कि विवेकी कहां आदर करे ?

(३०) द्वात्रिंशिका २३ हेम० योग शा० १२ प्रका० २२-२३-२४-२५ (३५) इष्टो० २०

सत्रहवां अध्याय

(मानव स्वभाव)

[जैसे अंधकार और प्रकाश, रात और दिन तथा भलाई और बुराई आदि अनेकों युगल अपने आपमें परस्पर विरुद्ध हैं, इसी तरह सज्जन दुर्जन भी है। एक जगत के अनुकूल है और दूसरा प्रतिकूल। यह मानव स्वभाव है। इसका अध्ययन करना बहुत आवश्यक है; अन्यथा पद पद परेशानी होगी। इसी लिए इस अध्याय में इस मानव स्वभाव पर प्रकाश डाला गया है।]

(सज्जन)

साधोः संगमनाल्लोके न किञ्चिद् दुर्लभं भवेत्।
बहुजन्मसु न प्राप्ता बोधिर्येनाधिगम्यते ॥ १ ॥

इस संसार में सज्जन के समागम से अधिक कोई दुर्लभ नहीं है। क्योंकि जो बोधि अनेक जन्मों में प्राप्त नहीं होती वह उसके (सज्जन समागम के) द्वारा प्राप्त हो सकती है।

न हि विक्रियते चेतः, सतां तद्धेतुसन्निधौ।
किं गोष्पदजलक्षोभी, क्षोभयेज्जलधेर्जलम् ॥ २ ॥

सज्जनों का चित्त विकार का कारण उपस्थित होने पर भी विकृत नहीं होता। ठीक ही है, क्या गाय के खोज में रहने वाले जल को क्षोभित करने वाला मच्छर समुद्र के जल को क्षोभित कर सकता है? कभी नहीं।

जाग्रत्वं सौमनस्यं च, कुर्यात्सद्वागलं परैः।
अजलाशयसम्भूत-ममृतं हि सतां वचः ॥ ३ ॥

सज्जनों की वाणी मनुष्य में जागृति और सौजन्य पैदा करती है अधिक क्या कहें, इनका वचन अजलाशय से उत्पन्न होने वाला अमृत है। लोकोक्ति है कि

(१) पद्मपु० १०१-१३ (२) क्षत्र० २-५३ (३) क्षत्र० २-५१

अमृत जलाशय (समुद्र) से उत्पन्न हुआ है; किन्तु वास्तव में तो अमृत अजलाशय (अजडाशय अर्थात विद्वान्) से पैदा होता है।

सज्जनास्तु सतां पूर्वं, समावर्ज्याः प्रयत्नतः ।
किं लोके लोष्ठवत्प्राप्यं, श्लाघ्यं रत्नमयत्नतः ॥ ४ ॥

सज्जनों का कर्तव्य है कि वे किसी के दुर्जन होने के पहले ही उसे प्रयत्न पूर्वक 'सज्जन बनाले क्योंकि विना यत्न के ढेले की तरह रत्न की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसका तो निर्माण करना पड़ता है। यही बात सज्जन के विषय में भी है।

निसर्गशुद्धस्य सतो न कश्चित्
चेतो विकाराय भवत्युपाधिः ।
त्यक्तस्वभावोऽपि विवर्णयोगात्
कथं तदस्य स्फटिकोऽस्तु तुल्यः ॥ ५ ॥

स्वभाव से ही शुद्ध सज्जन के मन में कोई भी उपाधि (बाह्य वस्तु) विकार पैदा नहीं कर सकती; ऐसी स्थिति में स्फटिक उसकी बराबरी कैसे कर सकता है? क्योंकि वह तो किसी रंग के संबंध से अपना स्वभाव छोड़ कर उसी रंगवाला दिखाई देने लगता है।

परस्य तुच्छेऽपि परोऽनुरागो महत्यपि स्वस्य गुणे न तोषः ।
एवंविधो यस्य मनोविवेकः किं प्रार्थ्यते सोऽत्र हिताय साधुः ॥६॥

जो दूसरे के तुच्छ गुण में भी ज्यादा अनुराग करता है किन्तु अपने महान गुण में भी जिसे संतोष नहीं होता है, जिसका मनो विवेक ऐसा है, उस सज्जन से यहां हित के लिए प्रार्थना करने की जरूरत नहीं है।

साधोर्विनिर्माणविधौ विधातुश्च्युताः कथंचित्परमाणवो ये ।
मन्ये कृतास्तैरुपकारिणोऽन्ये पाथोदचन्द्रद्रुमचन्दनाद्याः ॥७॥

(४) क्षत्र० २-४० (५) धर्मशर्मा० १-२१ (६) धर्मशर्मा० १-१८ (७) धर्मशर्मा० २-११

मेरी ऐसी कल्पना है कि सज्जन के निर्माण के कार्य में विधाता के हाथ से जो परमाणु बिखर गये थे; उनसे ही बादल, चांद, वृक्ष और चंदन वगैरह दूसरे उपकारी पदार्थों का निर्माण हुआ है।

खलं विधात्रा सृजता प्रयत्नात्किं सज्जनस्योपकृतं न तेन।
ऋते तमांसि द्युमणिर्मणिर्वा विना न काचैः स्वगुणं व्यनक्ति।८

प्रयत्न पूर्वक दुर्जन का निर्माण करने वाले विधाता ने सज्जन का कौनसा उपकार नहीं किया ? सच तो यह है कि यदि दुर्जन नहीं होता तो सज्जन के गुण का पता ही नहीं चलता। यदि अंधेरा न होता तो सूरज के और यदि काच न होता तो कभी रत्न के गुण प्रकट नहीं होते ?

धुनोति दवथुं स्वान्तात् तनोत्यानन्दथुं परम्।
धिनोति च मनोवृत्तिमहो! साधुसमागमः॥ ९॥

साधु समागम (सज्जनों की संगति) मन की चंचलता को दूर करता है, उत्कृष्ट आनंद का विस्तार करता है और मन की वृत्ति को तृप्त करता है। यह प्रसन्नता की बात है।

मुष्णाति दुरितं दूरात् परं पुष्णाति योग्यताम्।
भूयः श्रेयोऽनुबध्नाति प्रायः साधुसमागमः॥१०॥

साधु समागम दूर से ही पाप को नष्ट कर देता है, उत्कृष्ट योग्यता का पोषण करता है और कल्याण की परंपरा को उत्पन्न करता है।

स्वदुःखे निर्घृणारम्भाः परदुःखेषु दुःखिताः।
निर्व्यपेक्षं परार्थेषु बद्धकक्षा मुमुक्षवः॥११॥

मुमुक्षु-बुराइयों से छूटने की इच्छा करने वाले-वाली सज्जन लोग अपने

(८) धर्मशर्मा० १–२२ (९) महापु० ९–१६० (१०) महापु० ९–१६१
(११) महापु० ९–१६४

दुखों को दूर करने के लिए उतना प्रयत्न नहीं करते जितना दूसरों के दुखों को दूर करने के लिए, क्योंकि वे पर दुख कातर होते हैं। वे दूसरों के दुखों को निरपेक्ष होकर दूर करते हैं।

गुणदोषसमाहारे गुणान् गृह्णन्ति साधवः ।
क्षीरवारिसमाहारे हंसः क्षीरमिवाखिलम् ॥१२॥

गुण और दोषों के समूह में साधुलोग गुणों को ग्रहण करते है, जैसे दूध और जल में हंस सारे दूध २ को ही खेंच लेता है।

बालस्य यथा वचनं काहलमपि शोभते पितृसकाशे ।
तद्वत्सज्जनमध्ये प्रलपितमपि सिद्धिमुपयाति ॥१३॥

जैसे अस्पष्ट भी बच्चे का वचन पिता के समीप शोभा को प्राप्त होता है इसी प्रकार सज्जनों के मध्य में मूर्खों का प्रलपित भी (असंगत बात) भी सिद्धि को प्राप्त हो जाता है; क्योंकि वे गुणग्राही होते हैं। कहीं से भी ये तो गुणों को ढूंढने के प्रयत्न में ही रहते हैं।

सद्भिः सुपरिगृहीतं यत् किञ्चिदपि प्रकाशतां याति ।
मलिनोऽपि यथा हरिणः प्रकाशते पूर्णचन्द्रस्थः ॥१४॥

सज्जनों के द्वारा ग्रहण किया हुआ यत् किंचित् भी प्रकाश को प्राप्त होजाता है, वह जगत के परिचय में आजाता है जैसे कि पूर्ण चंद्रमा में ठहरा हुआ मलिन भी हरिण सब को प्रकाशित हो जाता है। अर्थात् सज्जन जिस पदार्थ को आदर के साथ ग्रहण कर लेता है वह प्रकाश में आजाता है।

कोऽत्र निमित्तं वक्ष्यति निसर्गमतिसुनिपुणोऽपि वाह्यन्यत् ।
दोषमलिनेऽपि सन्तो यद् गुणसारग्रहणदक्षाः ॥१५॥

---

(१२) पद्मपु० १-३५ (१३) प्रशम० ११ (१४) प्रशम० १० (१५) प्रशम० ९

सज्जन लोग जो दोषों से मलिन है उसमें भी गुणों के सार को ग्रहण करने में दक्ष होते हैं। स्वाभाविक बुद्धि से कुशल मनुष्य भी इसमें दूसरा कारण क्या बतलावेगा। यह तो सज्जन का स्वभाव ही है।

[दुर्जन]

अदोषामपि दोषाक्तां पश्यन्ति रचनां खलाः।
रविमूर्तिमिवोलूकास्तमालदलकालिकाम् ॥१६॥

दुर्जन लोग दोष रहित रचना को भी दोष युक्त ही देखते हैं जैसे कि उल्लू सूरज के पिण्ड को तमाल के पत्ते की तरह काला। दुर्जनों का स्वभाव ही ऐसा होता कि वे गुणों में भी दोष ही ग्रहण करते हैं।

सरोजलागमद्वारजालकानीव दुर्जनाः।
धारयन्ति सदा दोषान् गुणबन्धनवर्जिताः ॥१७॥

दुर्जन हमेशा तालाब में जल आने की जाली की तरह दोषों का ग्रहण करते है, क्योंकि वे गुणों के बंधन से वर्जित हैं।

गुणदोषसमाहारे दोषान् गृह्णन्त्यसाधवः।
मुक्ताफलानि संत्यज्य काकामांसमिव द्विपात् ॥१८॥

असज्जन लोग गुण और दोषों के समूह में केवल दोषों को ग्रहण करते है ठीक वैसे ही जैसे कौवे हाथी के माथे से मोती नहीं किन्तु मांस ग्रहण करते है।

न प्रेम नम्रेऽपि जने विधत्से मित्रेऽपि मैत्रीं खल ! नातनोषि।
तदेष किं नेष्यति न प्रदोषस्त्वामञ्जसा सायमिवावसानम् ॥१९॥

हे दुर्जन ! तुम नम्र मनुष्य से भी प्रेम और मित्र में भी मैत्री नहीं करते ! क्या तुम्हारा यह प्रदोष (उत्कृष्ट दोष) तुम्हें विनाश तक नहीं पहुंचा देगा ! जैसे कि प्रदोष (संध्या के पहले का समय) काल संध्या तक पहुंचा देता है।

(१६) पद्मपु० १-३७ (१७) पद्मपु० १-२८ (१८) पद्मपु० १-३६ (१९) धर्मशर्मा० १-२४

उच्चासनस्थोऽपि सतां न किंचिन्नीचः स चित्तेषु चमत्करोति ।

स्वर्णाद्रिशृङ्गाग्रमधिष्ठितोऽपि काको वराकः खलु काकएव॥२०॥

ऊंचे आसन पर बैठा हुआ वह नीच सज्जनों के चित्त में कभी चमत्कार नहीं पैदा कर सकता, क्योंकि सुमेरु पर्वतपर बैठा हुआ भी कौवा तो सदा कौवा ही रहता है।

स्पृष्टानामहिभिर्नश्येद् गात्रं खलजनेन तु ।

वंशवैभववैदुष्यक्षान्तिकीर्त्यादिकं क्षणात् ॥२१॥

सांपों के द्वारा डसे हुए लोगों का तो शरीर ही नष्ट होता है; किन्तु दुर्जन के द्वारा डसे हुए लोगों का वंश, वैभव, विद्वत्ता, क्षमा और कीर्ति आदि सभी क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं।

खलः कुर्यात्खलं लोक मन्यमन्यो न कंचन ।

न हि शक्यं पदार्थानां, भावनं च विनाशवत् ॥२२॥

दुर्जन सब को दुर्जन बना देता है किन्तु सज्जन किसी को सज्जन नही बना सकता। ठीक ही है पदार्थों का निर्माण विनाश की तरह संभव नहीं है।

धिग् धिग् नीचसमासङ्गं दुर्वचः श्रुतिकारणम् ।

मनोविकारकरणं महापुरुषवर्जितम् ॥२३॥

नीचों के समागम को धिक्कार हो; क्योंकि वह दुर्वचन के सुनने का कारण, मन में विकारों के उत्पन्न करने का साधन और महापुरुषों के द्वारा वर्जित होता है।

स्वभावमिति निश्चित्य सुजनस्येतरस्य च ।

सुजनेष्वनुरागो नो दुर्जनेष्ववधीरणा: ॥२४॥

सज्जन और दुर्जन का ऐसा स्वभाव है यह निश्चय करके सज्जनों में अनुराग होता है किन्तु दुर्जनों में तिरस्कार के भाव नहीं होते।

(२०) धर्मशर्मा० १-३० (२१) क्षत्र० २-४८ (२२) क्षत्र० २-४९ (२३) पद्मपु० ३५-३० (२४) महापु० १-९२

सज्जन दुर्जन

प्रणाममात्रसाध्यो हि महतां चेतसः शमः ।
महद्भिरपि नो दानैरुपशाम्यन्ति दुर्जनाः ॥२५॥

महान पुरुषों को चित्त की शांति केवल प्रणाम मात्र से ही हो जाती है; किन्तु दुर्जन बड़े २ दानों से भी शांत नहीं होता।

सौजन्यस्य परा कोटिरनसूया दयालुता ।
गुणपक्षानुरागश्च दौर्जन्यस्य विपर्ययः ॥२६॥

डाह नहीं रखना, दयालु होना और गुणों के पक्ष में अनुराग होना ही सौजन्य की उत्कृष्ट कोटि है और इनका विपर्यय दौर्जन्य की उत्कृष्ट सीमा है।

रिक्तारिक्तदशायां च सदसन्तौ न भेदिनौ ।
खातापि हि नदी दत्ते पानीयं न पयोनिधिः ॥२७॥

रिक्त (अभावग्रस्त) अवस्था में सज्जन अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता। इसी प्रकार संपन्न अवस्था में भी दुर्जन दुष्ट ही बना रहता है। सूखी नदी खोदने पर भी पीने योग्य पानी देती है; किन्तु समुद्र में यह बात नहीं है, यद्यपि उसमें अपार जल राशि है।

अपकारोपकाराभ्यां सदसन्तौ न भेदिनौ ।
दग्धं च भाति कल्याणं केनाङ्गारविशुद्धता ॥२८॥

यदि सज्जनों का कोई अपकार भी करदे और दुर्जन का कोई उपकार भी करे तो भी उनके स्वभावों में कोई भेद नहीं हो जाता; क्योंकि सोने को यदि जलाया तो भी वह निखरता है और कोयले को बार बार धोने पर भी वह सफेद नहीं होता।

गुणानगृह्णन्सुजनो न निर्वृतिं प्रयाति दोषानवदन्न दुर्जनः ।
चिरंतनाभ्यासनिबन्धनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः॥२९॥

सज्जन को गुण ग्रहण किये बिना शांति नहीं मिलती। इसी प्रकार दुर्जन को दूसरों के दोष देखे बिना शांति नहीं मिलती। इसका कारण उनका चिरंतनाभ्यास है। उसीसे प्रेरित उनकी बुद्धि की प्रवृत्ति गुण अथवा दोषों में होती है।

(२५) पद्मपु० ४८-३२ (२६) महापु० १-६१ (२७) क्षत्र० १०-५३ (२८) क्षत्र० १०-५२
(२९) चन्द्रप्रभ० १-७

अठारहवां अध्याय

विविध

[इस अध्याय में विभिन्न लोकोपयोगी विषयों के आत्म-शोधक पद्यों का संग्रह है। इनका सतत स्वाध्याय, मनन एवं चिन्तन मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति में सहायक होता है। मानव जीवन की विभिन्न दिशाओं का इसमें विवेचन और चित्रण है। जीवन निर्माण में इसका सफल उपयोग हो सकता है। मनुष्य का अशांत मन इस संकलन का अध्ययन कर अपने क्षोभ एवं आकुलता को अवश्य ही शान्त कर सकता है। विविध विषयों से संबद्ध होने के कारण इस अध्याय को सब से अन्त में रखा गया है।]

सत्यं यूपस्तपोवह्निर्मानसं चपलं पशुः ।
समिधश्च हृषीकाणि धर्मयज्ञोऽयमुच्यते ॥ १ ॥

सत्य यूप (पशु को बांधने का खूंटा) है, तप ही आग है, चपल मन ही पशु है और इंद्रियां यज्ञ काष्ठ हैं। यही धर्मयज्ञ कहलाता है।

यजमानोभवेदात्मा शरीरं तु वितर्दिका ।
पुरोडाशस्तु संतोषः परित्यागस्तथा हविः ॥ २ ॥

आत्मा यजमान है, शरीर वेदी है, संतोष पुरोडाश (यज्ञाहुति के लिए कपाल में पकाई गई जो आदि के चूर्ण की टिकिया अथवा खीर) है और बाह्य पदार्थों का त्याग हवि (हवन करने योग्य वस्तु) है।

मूर्धजा एव दर्भाणि दक्षिणा प्राणिरक्षणम् ।
प्राणायामः सितं ध्यानं यस्य सिद्धपदं फलम् ॥ ३ ॥

जिस धर्म यज्ञ के बाल ही डाभ हैं, प्राणियों की रक्षा ही दक्षिणा है; प्राणायाम ही शुक्ल ध्यान है और सिद्ध पद ही फल है।

(१) पद्मपु० ११-२४४ (२) पद्मपु० ११-२४२ (३) पद्मपु० ११-२४३

नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत् ।
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्प्यते ॥ ४ ॥

गाय और घोडे की तरह मनुष्यों में परस्पर कोई जातिकृत भेद नहीं है। सब मनुष्यों की समान आकृति है। आकृति भिन्न होने से ही जाति भिन्न होती है। इसलिए जाति की अपेक्षा सब मनुष्य समान हैं।

दृश्यते जातिभेदस्तु यत्र तत्रास्य संभवः ।
मनुष्यहस्तिबालेयगोवाजिप्रभृतौ यथा ॥ ५ ॥

जहाँ जाति भेद स्पष्ट दिखलाई पडता है वहां वह है ही; जैसे मनुष्य, हाथी, गधा, गाय और घोड़ा आदि का जाति भेद। इन सब की विभिन्न जाति है। किन्तु इस प्रकार का कोई जाति भेद मनुष्यों में नहीं हो सकता।

यो यद्विजानाति स तन्न शिष्यो यो वा न यद्वष्टि स तन्न लम्भ्यः ।
को दीपयद्धामनिधिं हि दीपैः कः पूरयेद्वाम्बुनिधिं पयोभिः॥ ६ ॥

जो जिस विषय को जानता है उसे उस विषय को समझाने की जरूरत नहीं है, और जो जिस को नहीं चाहता है उसे वह चीज देना ठीक नहीं है। ऐसा कौन समझदार है जो दीपकों से सूरज को प्रकाशित करने का और समुद्र को जलों से भरने का प्रयत्न करे।

अव्युत्पन्नमनुप्रविश्य तदभिप्रायं प्रलोभ्याप्यलं,
कारुण्यात्प्रतिपादयन्ति सुधियो धर्मं सदा शर्मदम् ।
संदिग्धं पुनरन्तमेत्य विनयात्पृच्छन्तमिच्छावशा-
न्न व्युत्पन्नविपर्ययाकुलमती व्युत्पत्त्यनर्थित्वतः ॥ ७ ॥

विद्वान लोग अव्युत्पन्न मनुष्य के अभिप्राय को समझकर उसे धन आदि का

(४) महापु० ७४-४९२ (५) पद्मपु० ११-१९५ (६) अनगार ध० १-८०
(५) अनगार ध० १-१७

लोभ देकर भी करुणा से कल्याणकारी कर्तव्योपदेश का हमेशा ही प्रतिपादन करते हैं। किन्तु जो अव्युत्पन्न तो नहीं पर संदेह वाला है वह जब पास में आकर उत्कंठित हुआ विनय से संदेह निवारणार्थ कोई बात पूछता है तो उसे भी वे वास्तविक कर्तव्य की सूचना करते हैं, लेकिन जो स्वयं ही व्युत्पन्न है और जो विपर्यय बुद्धि वाला है उसे उपदेश देना उचित नहीं समझते; क्योंकि उन्हें समझने की जरूरत नहीं है।

शुभेऽशुभे वा केनापि प्रयुक्ते नाम्नि मोहतः।
स्वमवाग्लक्षणं पश्यन्न रतिं यामि नारतिम् ॥ ८ ॥

यदि कोई राग अथवा द्वेष से मेरे लिए बुरे अथवा भले नाम का प्रयोग करे तो मैं उसे न बुरा मानता हूँ और न भला; क्योंकि मैं यह देखता हूँ कि मैं वाणी का विषय ही नहीं हूँ।

यः शृणोति यथा धर्ममनुवृत्यस्तथैव सः।
भजन् पथ्यमपथ्येन बालः किं नानुमोद्यते ॥ ९ ॥

जो जिस तरह कर्तव्योपदेश को सुने उसे उसी तरह सुनाना चाहिए। क्या अपथ्य (मीठी चीज आदि) के साथ पथ्य (हितकारी औषधि) को लेते हुए बच्चे की प्रशंसा नहीं की जाती!

वृद्धेष्वनुद्धताचारो ना महिम्नानुबध्यते :
कुलशैलाननुत्क्रामन् सरिद्भिः पूर्यतेर्णवः ॥१०॥

वृद्धों के समक्ष विनीत व्यवहार करने वाला मनुष्य महिमामय बन जाता है। ठीक ही है कुलाचलों (पर्वतों) को नहीं उल्लंघन करने वाला समुद्र ही नदियों के द्वारा भरा जाता है।

(८) अनगार ध० ८-२१ (९) अनगार ध० १-१८ (१०) अनगार ध० १-१९

बहुशोऽप्युपदेशः स्यान्न मन्दस्यार्थसंविदे ।

भवति ह्यन्धपाषाणः केनोपायेन काञ्चनम् ॥११॥

मूर्ख के लिए अनेक प्रकार का उपदेश भी अर्थ ज्ञान का कारण नहीं होता । ठीक ही है-ऐसा कौनसा उपाय है जिससे अंध पाषाण भी कांचन बन सकता हो ।

श्रोतुं वाञ्छति यः सदा प्रवचनं प्रोक्तं शृणोत्यादराद्,

गृह्णाति प्रयतस्तदर्थमचलं तं धारयत्यात्मवत् ।

तद्विद्यैः सह संविदत्यपि ततोन्यांश्चोहतेऽपोहते,

तत्तत्त्वाभिनिवेशमावहति च ज्ञाप्यः स धर्मः सुधीः ॥१२॥

कर्त्थ्योपदेश केवल उसे ही देना चाहिए जो उसे सुनना चाहता है, जो कहे हुए को आदर से सुनता है, जो प्रयत्न पूर्वक उसके अर्थ को ग्रहण करता है, जो अपने आत्मा की तरह (जैसे आत्मा को कभी नहीं छोड़ता है) उसके स्थिर अर्थ को धारण करता है अर्थात् भूलता नहीं है; जो उस तत्त्व को जानने वालों के साथ संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय का निरास करके निश्चय करता है, जो उस पदार्थ से भिन्न पदार्थों को व्याप्ति से जानने की चेष्टा करता है, जो उससे विपरीत प्रमाण बाधित पदार्थों को अश्रद्धेय मान कर छोड़ता है और जो हेय, उपादेय एवं उपेक्षणीय तत्त्व को धारण करता है ।

स्वार्थैकमतयो भान्तु मा भान्तु घटदीपवत् ।

परार्थे स्वार्थमतयो ब्रह्मवद्भान्त्वहर्दिवम् ॥१३॥

जिनकी बुद्धि केवल अपना ही हित करने की है वे घड़े में रखे हुए दीपक की तरह चाहे प्रकाश करें या चाहे न करें । किन्तु जो स्वकल्याण के साथ पर कल्याण में अपनी बुद्धि का उपयोग करते हैं वे ब्रह्म की तरह हमेशा ही प्रकाश करते रहें । जैसे ब्रह्म अर्थात् सर्वज्ञ स्वयं निष्कल होकर दूसरों के लिए तत्त्व ज्ञान को प्रकट करते हैं वैसे ही मनुष्य का कर्तव्य है कि वह परोपकारी भी हो ।

---

(११) अनगार ध० १-१३ (१२) अनगार ध० १-१४ (१३) अनगार ध० १-११

कालदष्टस्य वा मन्त्रो भैषज्यं वा गतायुषः ।
आजन्मान्धस्य वादर्शो विपरीतस्य सद्वचः ॥१४॥

जिसको काल ने डस लिया है मंत्र उसका कुछ भी नहीं कर सकता। जिसकी आयु नष्ट होगई है औषधि से उसे कोई लाभ नहीं हो सकता। जो जन्मान्ध है उसके लिए दर्पण का कोई उपयोग नहीं है। इसी प्रकार विपरीत वृत्ति रखने वाले मनुष्य पर सज्जनों के वचनों का कोई असर नहीं होता।

यः कर्मव्यतिहारेण नोपकारार्णवं तरेत् ।
स जीवन्नपि निर्जीवो निर्गन्धप्रसवोपमः ॥१५॥

जो मनुष्य कर्म व्यतिहार अर्थात् उपकार के बदले में उपकार रूपी समुद्र को नहीं तैर सकता वह जीता हुआ भी निर्जीव है। वह वैसा ही है जैसा गन्धहीन फूल। मनुष्य की महत्ता इसी में है कि कृतज्ञता पूर्वक उपकार का बदला चुकावे।

उच्चैः प्रभाषितव्यं स्यात् सभामध्ये कदाचन ।
तत्राप्यनुद्धतं ब्रूयाद्वचः सम्यगनाकुलम् ॥१६॥

कभी २ सभाओं में जोर से बोलना भी अनिवार्य हो जाता है तौभी मनुष्य का कर्त्तव्य है कि उसे अनुद्धत और अनाकुल वचन ही अच्छी तरह बोलना चाहिए।

धीमानुदीक्षते पश्यन् जन्मनोऽस्य हिताहिते ।
भाविनस्ते प्रपश्यन्तः स्युर्न धीमत्तमाः कथम् ॥१७॥

कोई भी बुद्धिमान मनुष्य इस जन्म के हित और अहित दोनों को देखता है; फिर जो आगामी जन्म के हित एवं अहित दोनों का विचार करते हैं वे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ क्यों नहीं होंगे ?

यद्वद्विषघातार्थं मन्त्रपदे न पुनरुक्तदोषोऽस्ति ।
तद्वद् रागविषघ्नं पुनरुक्तमदुष्टमर्थपदम् ॥१८॥

(१४) महापु० ५६–६४ (१५) महापु० ६३–२२२ (१६) महापु० १–१३२
(१६) महापु० ७६–३८३ (१८) प्रशम० १३

जिस प्रकार जहर के विनाश के लिए पुनरुक्त भी अर्थात् मंत्र का बार बार उच्चारण करना धी-दोष के लिए नहीं है,तो इसी प्रकार राग के विष को दूर करने वाला पुनरुक्त भी इष्टपद (प्रयोजन परक शब्द) दोष के लिए नहीं हो सकता।

वरमाहारमुत्सृज्य मरणं सेवितुं सुखम्।
अवज्ञातेन नान्यस्य गृहे क्षणमपि स्थितम् ॥१९॥

आहार को छोड़कर सुखपूर्वक मृत्यु का सेवन करना अर्थात् मर जाना अच्छा है किन्तु दूसरे के घर में अपमान पूर्वक क्षण भर भी रहना अच्छा नहीं है।

संग्रामे शस्त्रसंपातजातज्वलनजालके।
वरं प्राणपरित्यागो न तु प्रतिनरानतिः ॥२०॥

शस्त्रों के गिरने से उत्पन्न हुई आग की ज्वाला वाले युद्ध में प्राणों का त्याग करना तो अच्छा है, किन्तु शत्रु के सामने झुकना अच्छा नहीं है।

यः प्रयोजयति मानसं शुभे यस्य तस्य परमः सः बान्धवः।
भोगवस्तुनि तु यस्य मानसं यः करोति परमारिरस्य सः ॥२१॥

जो जिसके मन को शुभ में (अच्छे कर्मों में) प्रयुक्त करता है वह उसका परम बान्धव है; किन्तु जो जिसके मानस को भोगों में लगाता है वह उसका जबर्दस्त वैरी है।

तत्र त्रिलोकसामान्ये वस्तुन्यस्मिन् समागते।
शोकं कुर्याद्विबुद्धात्मा को नरो भवकारणम् ॥२२॥

जो तीनलोक में एकसी है ऐसी वस्तु (मृत्यु) के समागम होने पर कौन ऐसा विबुद्धात्मा मनुष्य है जो संसार के कारण शोक को करे।

(१९) पद्मपु० ३५-१२ (२०) पद्मपु० १२-१७७ (२१) पद्मपु० १७-१७८
(२२) पद्मपु० ५-२७६

स्वसाहेत्वन्तरापेक्षी गुणदोषनिबन्धनी ।

यस्यादानपरित्यागौ स एव विदुषां वरः ॥२३॥

जिसका किसी भी वस्तु को ग्रहण करना और छोड़ना गुण और दोषों के अधीन है अर्थात् जो गुण होने के कारण किसी वस्तु को ग्रहण करता है और दोष होने के कारण छोड़ता है,–ऐसा करने में अन्य कोई कारण नहीं है–वही विद्वानों मे श्रेष्ठ है।

परपीडाकरं वाक्यं वर्जनीयं प्रयत्नतः ।

हिंसायाः कारणं तद्धि सा च संसारकारणम् ॥२४॥

दूसरों को पीडा करने वाला वाक्य प्रयत्न पूर्वक छोड़ना चाहिए; कभी नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि वह हिंसा का कारण है और वह हिंसा संसार का कारण है।

पुरा शिरसि धार्य्यन्ते पुष्पाणि विबुधैरपि ।

पश्चात् पादोऽपि नास्प्राक्षीत् किं न कुर्य्याद् गुणक्षतिः ॥२५॥

पहले फूल (फूलों की माला) विद्वानों के द्वारा भी शिर पर धारण किये जाते हैं किन्तु जब वे डोरा टूटने पर बिखर जाते है, तब उन्हें पैर भी नहीं छूता। ठीक ही है–गुणों (डोरा अथवा क्षमादि गुण) की क्षति क्या नहीं करती ?

आशाखनिरतीवाभूदगाधा निधिभिश्च या ।

सापि येन समीभूता तत्ते मानधनं धनम् ॥२६॥

जो आशा रूपी खान अतलस्पर्श है जो निधियों के द्वारा भी नहीं भरी जासकी, वह जिस वस्तु के द्वारा भरदी गई वह तुम्हारा गौरवरूपी धन है।

परां कोटिं समारूढौ द्वावेव स्तुतिनिन्दयोः ।

यस्त्यजेत्तपसे चक्रं यस्तपो विषयाशया ॥२७॥

(२३) आत्मानु० १४५ (२४) पद्मपु० ५–३४१ (२५) आत्मानु० ११९
(२६) आत्मानु० १५६ (२७) आत्मानु० १६४

स्तुति और निंदा के ऊंचे शिखर को वे ही दोनों चढे हुए हैं जो तप के लिए साम्राज्य को छोड देते हैं अथवा जो विषयों की आशा से तप छोड देते हैं। आत्म-साधना के लिए साम्राज्य छोड़नेवाले महान वंदनीय और साम्राज्य के लिए आत्म-साधना को छोड देने वाले अत्यंत निंदनीय हैं।

क्षीरनीरवदभेदरूपतस्तिष्ठतोरपि च देहदेहिनोः।

भेद एव यदि भेदवत्स्वलं बाह्यवस्तुषु वदात्र का कथा ॥२८॥

दूध और जल की तरह अभेद रूप से स्थित रहने वाले शरीर और आत्मा का भी अगर भेद ही है तो स्पष्टतया भिन्न दिखने वाली बाह्य वस्तुओं-(स्त्री पुत्र आदि) में तो भेद है ही, बोलो ! इनमें अभेद की क्या बात है ?

स्वल्पं स्वल्पमपि प्राज्ञैः कर्त्तव्यं सुकृतार्जनम् ।

पतद्भिर्बिन्दुभिर्जाता महानद्यः समुद्रगाः ॥२९॥

बुद्धिमानों को थोडा थोड़ा भी सुकृत का उपार्जन जरूर करते रहना चाहिए। यह कौन नहीं जानता कि गिरते हुए बिंदुओं से बनी हुई महा नदिएं-समुद्र को पहुंच जाती हैं।

नरो विबध्येत सरागतां गतो न कर्मभिस्तद्विपरीतभावनः ।

निरन्तरं मुञ्चति वारि वारिदे विगाहितुं धूलिरलं हि नाम्बरम्॥

सरागता को प्राप्त अर्थात् राग द्वेष वाला मनुष्य ही कर्मों से बंधता है। उससे विपरीत भावना रखने वाला (राग-द्वेषादि कषाय रहित) जीव कभी नहीं। ठीक ही है जब बादल निरंतर पानी बरसा रहा हो तब धूलि कभी भी आकाश को अवगाहन (व्याप्त) करने के लिए समर्थ नहीं हो सकती।

यदीदमागन्तुककु[illegible]कारणं प्रपश्यते संसृति[illegible]:।

तदा [illegible] [illegible] मक्षणम्।३१।

---

(२८) आत्मानु० २५३ (२९) पद्मपु० १३-२४४ (३०) चन्द्रप्र० ११-२१
(३१) चन्द्रप्र० ११-२५५

मूर्ख अथवा भोले लोग आगामी दुखों के कारण ऐसे संसार सुख को यदि प्रशंसा करते हैं तब तो जहर से मिले हुए गुड़ के भक्षण की भी उन्हें प्रशंसा करना चाहिए।

पञ्चानन इवामोक्षादसिपञ्जरग्राहितः ।
क्षणेऽपि दुःसहे देहे देहिन्हन्त कथं वसेः ॥३२॥

जबतक मोक्ष नहीं हो तबतक लोहे के पींजरे में बंधे हुए शेर की तरह हे प्राणिन् ! इस दुःसह शरीर में तुम्हें रहना होगा किन्तु इसमें रहना तो क्षण भर के लिए भी सह्य नहीं है। दुःख है तुम इस प्रकार के शरीर में कैसे रह रहे हो ?

शिरस्थं भारमुत्तार्य्यं स्कन्धे कृत्वा सुयत्नतः ।
शरीरस्थेन भारेण अज्ञानी मन्यते सुखम् ॥३३॥

अज्ञानी मनुष्य शिर पर रहने वाले भार को उतार कर और उसे प्रयत्न पूर्वक कंधे पर करके शरीरस्थ भार से ही अपने को सुखी मानता है। भार तो पहले भी उसके शरीर पर था और अब भी शरीर पर ही है केवल स्थान ही तो बदला है। (यह आश्चर्य ही है)

करोतु न चिरं घोरं तपःक्लेशासहो भवान् ।
चित्तसाध्यान् कषायारीन्न जयेद्यत्तदज्ञता ॥३४॥

तप के क्लेश को नहीं सह सकने वाले आप चाहे चिरकाल तक तप (उपवास आदि) न करें; किन्तु जिन्हें केवल मन के द्वारा जीता जा सकता है ऐसे कषाय रूप शत्रुओं को न जीतना तो मूर्खता ही है।

पुनाति त्रायते चायं पितरं येन शोकतः ।
एतत्पुत्रस्य पुत्रत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥३५॥

(३२) क्षत्र० ११-३७ (३३) आत्मानु० २०१ (३४) आत्मानु० २१२
(३५) पद्मपु० ३१-१२७

यही पुत्र का पुत्रत्व है कि वह पिता को पुनाति-त्रायते-शोक से रक्षा करता है। उसका पुत्र कहलाने का कारण भी यही है। ऐसा मनीषी (विद्वान्) लोग कहते हैं।

नाङ्गुली-भञ्जनं कुर्यान्न भ्रुवौ नर्तयेद् ब्रुवन्।
नाधिक्षिपेन्न च हसेन्नात्युच्चैर्न शनैर्वदेत् ॥३६॥

मनुष्य बोलते समय न अंगुली चटकावे और न अपनी भौंहों को नचावे। न किसी का तिरस्कार करे और न हंसे, न जोर से बोले और न बिलकुल धीरे बोले।

न कश्चित्स्वयमात्मानं शंसन्नाप्नोति गौरवम्।
गुणा हि गुणतां यांति गुण्यमानाः पराननैः ॥३७॥

कोई भी स्वयं ही अपनी प्रशंसा करता हुआ मनुष्य गौरव को प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि दूसरों के मुंह से वर्णन किये गये गुण ही गुणपने को प्राप्त होते है। (इसलिए मनुष्य को अपने मुंह से अपनी प्रशंसा कभी नहीं करना चाहिए।)

अविरुद्धं स्वभावस्थं परिणामसुखावहम्।
वचोऽप्रियमपि ग्राह्यं सुहृदामौषधंयथा ॥३८॥

जो अविरुद्ध हो, स्वभावस्थ (जिसमें छल कपट न) हो, परिणाम में सुख का देने वाला हो ऐसा मित्रों का अप्रिय वचन भी औषधि के समान ग्रहण करने के योग्य है।

मत्ताः केसरिणोऽरण्ये शृगालानाश्रयन्ति किम्।
नहि नीचं समाश्रित्य जीवन्ति कुलजानराः ॥३९॥

(३६) महापु० १-११३ (३७) पद्मपु० ७३-७१ (३८) पद्मपु० ६३-४८
(३९) पद्मपु० ५३-२४०

मदोन्मत्तसिंह क्या जंगल में शृगालों का आश्रय करते हैं? कभी नहीं। ऐसे ही अच्छे कुल के लोग नीच का आश्रय करके कभी नहीं जीते हैं।

सर्वथा प्रातरुत्थाय पुरुषेण सुचेतसा।
कुशलाकुशलं स्वस्य चिन्तनीयं विवेकतः ॥४०॥

मनुष्य को प्रातःकाल उठ कर मनोयोग पूर्वक अपने शुभ और अशुभ अथवा हित एवं अहित के विषय में विवेक से विचार करना चाहिए।

आनंदामृतनिर्यासो निरुपाधिर्विवेकजः।
यत्र स्वानुभवस्तिष्ठेद् दुःखानां तत्र का कथा ॥४१॥

जिस आत्मा में आनंद रूपी अमृत का रस, विवेक से उत्पन्न होने वाला एवं राग द्वेषादि विकारों से रहित स्वानुभव निवास करता है उस आत्मा में दुखों का प्रसंग ही क्या है?

मृदुं पराभवत्येष लोकः प्रखलचेष्टितः।
उद्घृत्याप्यसुखं कर्तुं नाभिवाञ्छति कर्कशे ॥४२॥

खलों की चेष्टावाला यह लोक मृदु (सीधे साधे आदमी) का पराभव करता है। किन्तु कर्कश में कोई भी दुख पैदा करना नहीं चाहता और न इसके लिए आग्रह करना ही उचित समझता है।

न करोति यतः पातं पित्रोः शोकमहोदधौ।
अपत्यत्वमपत्यस्य तद्वदन्ति सुमेधसः ॥४३॥

जिस कारण से संतान माता पिता को शोक समुद्र में नहीं गिराता किन्तु गिरने से बचाता है इसीलिए वह अपत्य कहलाता है। अपत्य (पुत्र एवं पुत्री) का अपत्यपना यही है कि उसके द्वारा माता पिता को परेशानी में नहीं डाला जाता।

(४०) पद्मपु० ४६-११० पावने० स्वानु० ८ (४२) पद्मपु० ८-३११
(४३) पद्मपु० ३१-१५२

कष्टं यैरेव जीवोऽयं कर्मभिः परितप्यते ।
तान्येवोत्सहते कर्तुं मोहितः कर्ममायया ॥४४॥

दुःख की बात है कि जिन्हीं कर्मों से यह जीव संतप्त होता है कर्म-माया से मोहित होकर उन्हें ही करने का उत्साह करता है।

विपत्तिमात्मनो मूढः, परेषामिव नेक्षते ।
दह्यमानमृगाकीर्ण-वनान्तरतरुस्थवत् ॥४५॥

जलते हुए पशुओं से व्याप्त जंगल के भीतर खड़े वृक्ष पर ठहरे हुए मनुष्य की तरह मूढ आदमी जैसे दूसरों की विपत्ति का खयाल करता है वैसे अपनी विपत्ति का विचार नहीं करता।

यज्ज्ञानशीलतपसामुपग्रहं निग्रहं च दोषाणाम् ।
कल्पयति निश्चये यत्तत्कल्प्यमकल्प्यमवशेषम् ॥४६॥

जो भोजन ज्ञान, शील और तप का उपकारक एवं दोषों का निग्रह करने वाला है वह वस्तुतः कल्प्य (ग्राह्य) और बाकी सब अकल्प्य (अग्राह्य) है।

कालं क्षेत्रं मात्रां स्वात्म्यं द्रव्यगुरुलाघवं स्वबलम् ।
ज्ञात्वा योऽभ्यवहार्यं भुंक्ते किं भेषजैस्तस्य ॥४७॥

काल, क्षेत्र, मात्रा, अपने शरीर की अनुकूलता, खाद्यवस्तु का भारीपन और हलकापन एवं अपनी शक्ति इन सबका खयाल कर जो मनुष्य भक्षण करने योग्य का भक्षण करता है उसे दवाओं से क्या प्रयोजन है?

अपि पश्यतां समक्षं नियतमनियतं पदे पदे मरणम् ।
येषां विषयेषु रतिर्भवति न तान् मानुषान् गणयेत् ॥४८॥

(४४) पद्मपु० ५-२२१ (४५) इष्टो० १४ (४६) प्रशम० १४३ (४७) प्रशम० १३७
(४८) प्रशम० ११०

पैड २ पर जो मरण नियत है उसे अनियत गिनने वाले जिन लोगों की रति विषयों में है उन्हें मनुष्य नहीं गिनना चाहिए।

सोर्थो धर्मेण यो युक्तो सो धर्मो यो दयान्वितः।
सा दया निर्मला ज्ञेया मांसं यस्यां न भुज्यते ॥४९॥

वही धन है जो धर्म सहित (न्याय से उपार्जित किया हुआ) है, वही धर्म है जो दया सहित है, वही निर्मल दया है जिसमें मांस भक्षण नहीं किया जाता।

विधित्सुरेनं तदिहात्मवश्यं कृतज्ञतायाः समुपैहि पारम्।
गुणैरूपैतोऽप्यपरैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकम् ॥५०॥

अतः तुम इन लोगों को वश में करने के लिए कृतज्ञता के पार को पहुंचो; क्योंकि कृतघ्न मनुष्य दुनियां में सब से बुरा होता है, वह सारे दूसरे गुणों से युक्त होने पर भी सब लोगों को उत्तेजित कर देता है।

जीवितात्तु पराधीना–ज्जीवानां मरणं वरम्।
मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रत्वं, वितीर्णं केन कानने ॥५१॥

पराधीन जीवन से तो जीवों का मरना ही अच्छा है। जंगल में सिंह को सिंहत्व किसने प्रदान किया है ?

कुर्याः सदा संवृतचित्तवृत्तिः फलानुमेयानि निजेहितानि।
गूढात्ममन्त्रः परमन्त्रभेदी भवत्यगम्यः पुरुषः परेषाम् ॥५२॥

तू अपने विचारों को हमेशा गुप्त रखो, तुम्हारे कार्य केवल फल के द्वारा होने वाले अनुमान से ही जाने जावें–ऐसा करो। जिसका अपना विचार गुप्त होता है किन्तु जो दूसरों के विचारों का पता लगालेता है वह शत्रुओं के लिए अगम्य होता है।

---

(४९) पद्मपु० ३५–१६३ (५०) चंद्र प्रभ चरित्र० ४–३८ (५१) क्षत्रचूडामणि० ४०–१
(५२) चंद्रप्रभ चरित्र० ४२–४

अन्य–दीयमिवात्मीयमपि दोषं प्रपश्यता ।
क: समः खलु मुक्तोऽयं, युक्तः कायेन चेदपि ॥५३॥

जो दूसरों के दोषों की तरह अपने भी दोषों को देखता है दुनियां में उसके समान कौन है ? यद्यपि वह शरीर से युक्त है किन्तु फिर भी वह कर्ममुक्त ही है ।

न तथा सुमहार्घ्यैरपि वस्त्राभरणैरलंकृतो भाति ।
श्रुतशीलमूलनिकषो विनीतविनयो यथा भाति ॥५४॥

अत्यंत बहुमूल्य वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत मनुष्य भी वैसा सुन्दर नहीं मालूम होता जैसा श्रुत और शील की कसौटी स्वरूप विनयी मनुष्य सुशोभित होता है ।

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः ।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्त्तव्या ॥५५॥

संपूर्ण पदार्थों को जानने वालों ने कहा है कि जगत का प्रत्येक पदार्थ एक रूप नहीं किन्तु अनेक रूप है । उसमें अनेक गुण–धर्म हैं । यह एक तथ्य है–इसमें कभी शंका नहीं करना चाहिए ।

उपायकोटिदूरक्ष्ये स्वतस्तत इतोऽन्यतः ।
सर्वतः पतनप्राये काये कोऽयं तवाग्रहः ॥५६॥

यह शरीर इधर उधर और सब ओर से पतनशील है । करोड़ों उपायों से भी मनुष्य इसकी न स्वयं रक्षा कर सकता है और न दूसरा कोई भी । ऐसे इस शरीर की रक्षा करने के लिए यह तुम्हारा क्या आग्रह है ?

हे चन्द्रमः ! किमिति लाञ्छनवानभूस्त्वम्,
तद्वान् भवेः किमिति तन्मय एव नाभूः ।

(५३) क्षत्र चूडामणि० ८३–१ (५४) प्रशम० ६८ (५५) पुरुषार्थ सिद्धयुपाय० २३
(५६) आत्मानु० ६९

किं ज्योत्स्नया मलमलं तव घोषयन्त्या,
स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नासि लक्ष्यः ॥५७॥

हे चंद्रमा तू कलंक वाला क्यों बना ? कलंकी बनने की अपेक्षा तो कलंक-मय ही क्यों नहीं बन गया ? इस तुम्हारी चांदनी से भी क्या लाभ है जो तेरे कलंक को स्पष्ट रूप से घोषणा कर रही है। अगर यह चांदनी तुममें न होती और तू पूरा कलंकमय ही होता तो तू भी राहू की तरह किसी को न दिखता और कलंकी ही न कहलाता।

अवश्यं नश्वरैरेभिरायुः कायादिभिर्यदि ।
शाश्वतं पदमायाति मुधा यातमवेहि ते ॥५८॥

अगर इन नश्वर आयु और शरीर आदि से शाश्वत (नित्य) पद की प्राप्ति होती है तो यह मानना चाहिए कि यह शाश्वत पद तुम्हें मुफ्त ही मिल रहा है।

पलितच्छलेन देहान् निर्गच्छति शुद्धिरेव तव बुद्धेः ।
कथमिव परलोकार्थं जरी वराकस्तदा स्मरति ॥५६॥

सफेद बालों के छल से तुम्हारी बुद्धि की शुद्धि ही तुम्हारे शरीर से निकल रही है। ऐसी स्थिति में बेचारा बुड्ढा (तू) पर लोक का कैसे स्मरण कर सकता है।

प्रियामनुभवत्स्वयं भवति कातरं केवलं ।
परेष्वनु भवत्सु तां विषयिषु स्फुटं ह्लादते ॥
मनो ननु नपुंसकं त्विति न शब्दतश्चार्थतः ।
सुधीः कथमनेन सन्नुभयथा पुमान् जीयते ॥६०॥

यह मन स्वयं प्रिया का अनुभव करता हुआ केवल कातर (अधीर) होता है; किन्तु जब दूसरी इंद्रियां इसका अनुभव करती है तो यह बडा खुश होता है।

(५७) आत्मानु० १४० (५८) आत्मानु० ७० (५६) आत्मानु० ८६
(६०) आत्मानु० १३७

वास्तव में मन केवल शब्द से ही नपुंसक (लिंग) नहीं है वह अर्थ से भी नपुंसक ही है। आश्चर्य तो यह है कि विद्वान मनुष्य जो शब्द और अर्थ दोनों से पुल्लिंग है इस उभयतः नपुंसक मन के द्वारा कैसे जीत लिया जाता है?

निर्धनत्वं धनं येषां मृत्युरेव हि जीवितम्।
किं करोति विधिस्तेषां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम् ॥६१॥

निर्धनत्व (अपरिग्रह) ही जिनका धन है और मृत्यु ही जिनका जीवन है उन एकमात्र ज्ञाननेत्रवाले सज्जनों का विधाता क्या कर सकता है?

लब्धेन्धनोज्वलत्यग्निः प्रशाम्यति निरन्धनः।
ज्वलत्युभयथाप्युच्चैरहो मोहाग्निरुत्कटः ॥६२॥

जिसको इंधन मिल गया है ऐसी आग जलती रहती है और इंधन रहित आग अपने आप शांत हो जाती है। किन्तु मोह की आग तो इंधन मिले या न मिले दोनों ही अवस्थाओं में खूब जलती रहती है।

अर्थिनो धनमप्राप्य धनिनोप्यवितृप्तितः।
कष्टं सर्वेऽपि सीदन्ति परमेको मुनिः सुखी ॥६३॥

धन की आकांक्षा वाले लोग धन को नहीं प्राप्त होकर दुखी है और धनी जितना धन मिला है उससे तृप्त नहीं होने के कारण दुखी हैं। कष्ट है कि दुनियां में सभी दुखी हैं केवल एक साधु ही सुखी है। क्योंकि उसे न धन की चाह है और न उसकी अतृप्ति।

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारकमत्र युक्तम्।
नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति ।६४।

अगर पदार्थ को सर्वथा नित्य माना जाय अर्थात् किसी भी दृष्टि से उसमें परिवर्तन स्वीकार नहीं किया जाय तो न किसी वस्तु की कभी उत्पत्ति होगी और

(६१) आत्मानु० १६१ (६२) आत्मानु० ५६ (६३) आत्मानु० ६५ (६४) स्वयं भू० २४

न कभी विनाश। यदि पदार्थ कथंचित् भी उत्पत्ति विनाश वाला नहीं माना जाय और सर्वथा नित्य ही माना जाय तो वह अर्थक्रिया कारक नहीं हो सकता और अर्थक्रिया तो पदार्थ का लक्षण है। सच तो यह है कि जगत में कभी असत की उत्पत्ति नहीं होती और इसी प्रकार सत् का विनाश। दीप बुझ जाता है और अंधेरा हो जाता है किन्तु अंधेरे की उत्पत्ति असत् की उत्पत्ति और दीपका विनाश सत् का विनाश नहीं है। क्योंकि दीप और अंधेरा दोनों ही पुद्गल हैं। यह उत्पाद और विनाश तो पर्याय (अवस्था) दृष्टि से है, द्रव्य दृष्टि से नहीं।

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥६५॥

घडा, मुकुट और सुवर्ण को चाहने वाले भिन्न २ मनुष्य घडे के नाश, मुकुट की उत्पत्ति और दोनों में सुवर्ण की स्थिति के कारण क्रम से शोक, हर्ष और माध्यस्थ्य को प्राप्त होते हैं और उनका ऐसा होना सहेतुक है। घडे का इच्छुक जब यह देखता है कि घडा नष्ट कर दिया गया है तो उसे शोक होता है किन्तु यह देख कर मुकुट का चाहने वाला खुश हो जाता है; क्योंकि घडे का नाश मुकुट बनाने के लिए किया गया है। किन्तु जिसे किसी न किसी रूप में सोने की जरूरत है उसे न शोक होता है और न हर्ष। वह तो दोनों अवस्थाओं में उदासीन रहता है अतः तत्व विनाश, उत्पाद और ध्रौव्यात्मक है।

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रती नोभे तस्मात्तत्वं त्रयात्मकम् ॥६६॥

जिसको यह व्रत है कि वह दूध के अतिरिक्त कुछ नहीं खायगा वह दही नहीं खाता है। इसी प्रकार केवल दही खाने के व्रत वाला दूध नहीं खाता है और जिसको गोरस नहीं खाने का व्रत है वह दूध और दही दोनों ही नहीं खाता है। इससे सिद्ध होता है कि तत्व त्रयात्मक है अर्थात् दूध दही से कथंचित् भिन्न है और दही दूध से कथंचित् भिन्न किन्तु गोरस की अपेक्षा दूध और दही दोनों एक हैं।

(६५) आप्तमी० ५९ (६६) आप्तमी० ६०

विवेकदीपेन महीयसा ये, पश्यन्ति सर्वं न कदापि तेषाम् ।
विमूढता सा हि निदानभूता, सर्वापदानर्थपरम्पराणाम् ॥६७॥

जो सर्वोत्कृष्ट प्रकाश देने वाले विवेक रूपी दीपक से सभी वस्तुओं को देखते है उन्हें वह विमूढता कभी प्राप्त नहीं होती जो सारी आपत्तियों और अनर्थ परंपराओं का मुख्य कारण है।

भावैस्तिर्यङ् नरः स्वर्गी नारकश्चेतनो भवेत् ।
भावैस्तीर्थकृतस्तस्मात्सद्भावानुररीकुरु ॥६८॥

यह आत्मा भावों से ही तिर्यंच, भावों से ही मनुष्य, भावों से ही देव और भावों से ही नारकी तथा भावों से ही तीर्थंकर बनता है। अतः तू श्रेष्ठ भावों को अपने आत्मा में उत्पन्न कर।

जीवोह्ययं भावमयः प्रदिष्टो–मनीषिभिः जीवरहस्यविद्भिः ।
ततः स्वकीयात्म–विलोकनाय, भावान् समालोकय मोहमुक्तः ।६९।

जीव के रहस्य को जानने वाले मनीषियों ने जीव को भावात्मक माना है; अतः मोह से मुक्त होकर हे मनुष्य ! तू स्व और पर को ठीक रूप से देखने के लिए अपने भावों की ओर ध्यान दे।

अविनीतस्य हि शिक्षा, फलं प्रसूते न मंगदं लोके ।
आत्मविडम्बनमेतत् लिगं खलु विनयहीनस्य ॥७०॥

विनयहीन मनुष्य की शिक्षा निश्चय है कि किसी सुखकारी फल को पैदा नहीं करती; अतः विनय रहित मनुष्य का कोई भी भेष धारण करना आत्म–विडम्बना ही है।

भावोऽस्ति नाको निरयोऽस्ति भावः,
तिर्यङ्नरो भावमयस्तथास्ति ।

---

(६७) भावना वि० ६८ (६८) भावना वि० ४ (६९) भावना० ५
(७०) भावना वि० १३७

सिद्धोऽपि भावात्मक एव नूनम्,

तदो न भावाः समुपेक्षणीयाः ॥७१॥

भाव ही स्वर्ग है, भाव ही नरक है, भाव ही तिर्यंच है भाव ही मनुष्य है और भाव ही सिद्धात्मा है। अतः भावों की उपेक्षा कभी नहीं करना चाहिए।

विनयत्यात्तं कर्म, असदिह यो, सोऽस्ति सर्वगुणभूषा।

निखिलक्षेमफलश्च, ज्ञानफलं विनय इत्याहुः ॥७२॥

जो ग्रहण किये हुए असत् कर्म को दूर करता है, जो इस जगत में सारे गुणों का आभूषण है, जो सारे कल्याणों को उत्पन्न करने वाला है और जो ज्ञान का फल है वही विनय है।

अनुगच्छति यः शठं प्रियैः प्रविहायोचितमात्मसौष्ठवम्।

स निजां विवृणोत्यसारतामपवृष्टिर्निनदन्निवाम्बुदः ॥७३॥

जो मनुष्य अपने आत्म सौष्ठव (आत्म गौरव) को छोड़ कर प्रिय वचनो के द्वारा धूर्तों का अनुगमन करता है उन्हें खुश करना चाहता है वह वर्षा रहित गरजते हुए बादल की तरह अपनी असारता को ही प्रकट करता है।

सुविचार्य करोति बुद्धिमानथवा नारभते प्रयोजनम्।

रभसात्करणं हि कर्मणां पशुधर्मः स कथं नु मानुषे ॥७४॥

बुद्धिमान मनुष्य अच्छी तरह विचार करके ही कोई काम करता है। बिना विचारे किसी भी काम का प्रारंभ नहीं करता। ठीक ही है सहसा किसी काम को करना तो पशु धर्म है, वह मनुष्य में कैसे रह सकता है?

नयविक्रमयोर्नयो बली नयहीनस्य वृथा पराक्रमः।

प्रविदारितमत्तकुञ्जरः शबरेणापि निहन्यते हरिः ॥७५॥

---

(७१) भावना वि० ६ (७२) भावना वि० १३५ (७३) चन्द्रप्रभचरितम् १२-६२
(७४) चन्द्रप्रभ चरितम् १२-१०२ (७५) चन्द्रप्रभचरितम् १२-७३

नीति और शक्ति इन दोनों में नीति ही बलवान होती है। जो नीतिहीन है उसका पराक्रम निष्फल होता है। मदोन्मत्त हाथियों का विदारण करने वाला सिंह एक भील के द्वारा मार डाला जाता है। यह शक्ति की विफलता और नीति की सफलता है।

बलवानपि जायते रिपुः सुखसाध्यः खलु नीतिवर्तिनाम्।
मदमन्थरमप्युपायतो ननु बध्नन्ति गजं वनेचराः ॥७६॥

जो नीति को जानने वाले है वे बलवान शत्रु को भी आसानी से वश में कर सकते हैं। सभी जानते है कि बनवासी (भील आदि) मद से भरत हाथी को नाना उपायों से वश में कर लेते हैं।

नयमार्गममुञ्चतः स्वयं विघटेतापि यदि प्रयोजनम्।
पुरुषस्य न तत्र दूषणं स समस्तोऽपि विधेः पराभवः ॥७७॥

नीति मार्ग को नहीं छोडते हुए मनुष्य का यदि प्रयोजन सफल भी न हो तो उसमें उसका कोई दोष नहीं है वह सब तो विधाता से होने वाला पराभव (पराजय) है।

अभिवाञ्छति पादसङ्गमप्यखिलः कर्तुं मतिग्मदीधितेः।
तपनं न दृशापि वीक्षितुं महिमाः नन्वखिलः स तेजसः ॥७८॥

सूरज की ओर कोई आंख उठाकर भी नहीं देख सकता; किन्तु चांद की किरणों का पैरों से भी स्पर्श करना चाहता है। यह सब तेजस्विता की महिमा है।

निंदाप्रशंसाश्रवणाय कर्णौ,
त्वं व्यापृतौ मा कुरु किन्तु गच्छ—
लक्ष्यांतमस्मिन् न कदापि कुर्याः
प्रमादमित्येष महोपदेशः ॥७९॥

(७६) चन्द्रप्रभचरितम् १८–७४ (७७) चन्द्रप्रभचरितम् १२–७५
(७८) चन्द्रप्रभचरितम् १२–६० (७९) पावनप्रवाह निंदा प्रशंसा ६

अपनी निन्दा और प्रशंसा सुनने के लिए तुम अपने कानों को कभी व्यस्त मत बनाओ; किन्तु लक्ष्य तक पहुंचने की कोशिश करो, और इसमें कभी प्रमाद न करो, यही सबसे बड़ा उपदेश अथवा सारे उपदेशों का सार है।

कालो हि चिंतामणिरस्ति नूनम्,
सदोपयुक्तो यदि मानवेन।
कल्पद्रुमः काल इहास्ति सत्यम्,
कालो न तस्मात्समुपेक्षणीयः ॥८०॥

काल ही चिन्तामणि रत्न है यदि मनुष्य उसका सदा ठीक उपयोग करे। वास्तव में काल ही कल्पवृक्ष है; इसलिए काल की कभी उपेक्षा नहीं करना चाहिए।

---

(८०) पावनप्रवाह—आलस्य ग्रनु ७